भगवान पारसनाथ

कुमार पार्श्वनाथका अपने मित्रो सहित। पंचाग्नि तप तपते तपस्वी द्वारा लकड़ी काटने पर सर्पके टुकडे देख तपस्वी और सर्पको उपदेश।

: प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ (सौराष्ट्र)

भगवान श्री कुंदकुंद-कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प नं. २६६

ॐ

भगवान पारसनाथ

卐

: गुजराती लेखक :

ब्र. हरिलाल जैन

सोनगढ़

卐

: हिन्दी अनुवादक :

पण्डित देवेन्द्रकुमारजी जैन

बिजौलियां, भीलवाडा, (राज.)

卐

: प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

प्रथमावृत्ति प्रत : १००० वि.सं. २०७५ ई.स. २०१९

भगवान पारसनाथ (हिन्दी) के
✽ स्थायी प्रकाशन पुरस्कर्ता ✽
छगनलाल कालीदास वाधर परिवार, जामनगर
हस्ते आत्मार्थी भानुबेन, विद्याबेन एवं
जसवंतीबेनके स्मरणार्थ

ॐ

સહજ ચિદાનંદ.

मूल्य रू. 10=00

: मुद्रक :
स्मृति ओफसेट
सोनगढ (सौराष्ट्र)

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

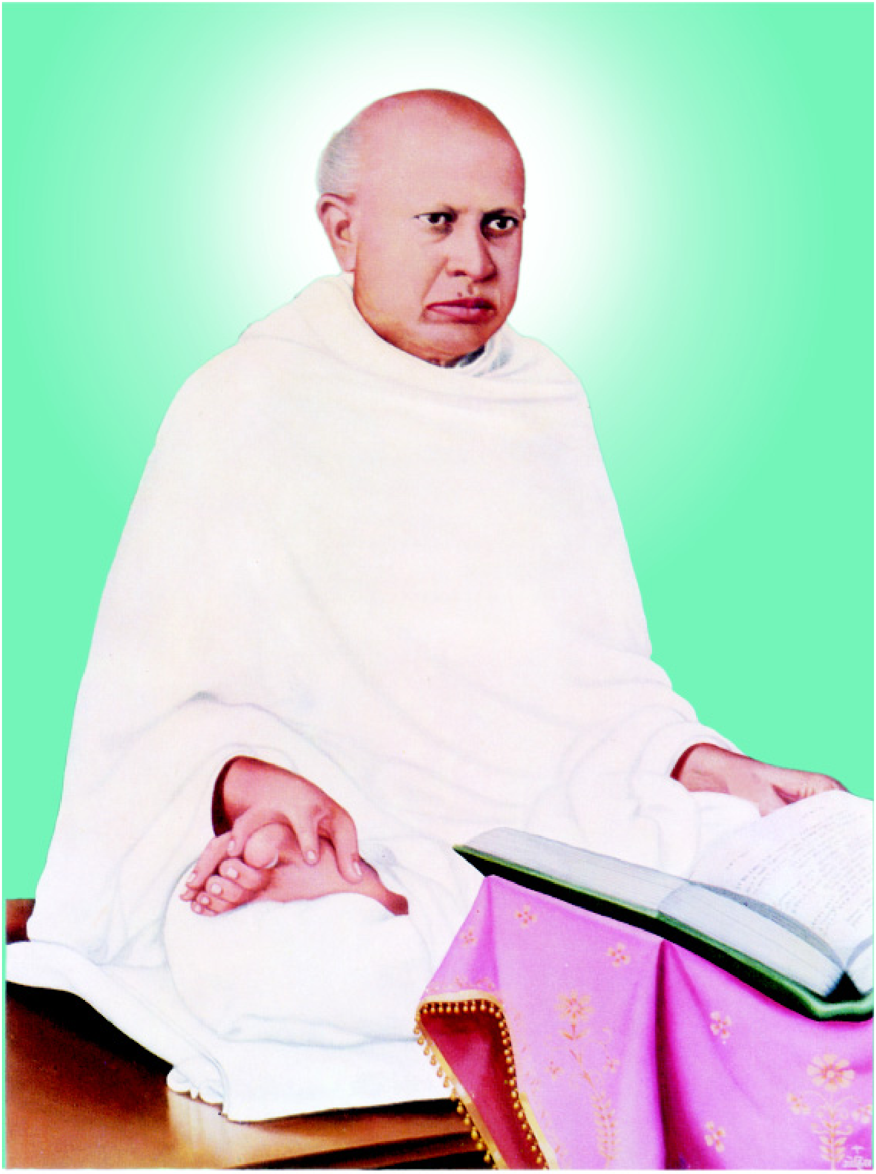

પરમ પૂજ્ય અધ્યાત્મમૂર્તિ સદ્ગુરુદેવ શ્રી કાનજીસ્વામી

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

प्रकाशकीय निवेदन

'भगवान पारसनाथ' की प्रथम हिन्दी आवृत्ति प्रकाशित करते हम अति हर्षित होते हैं।

चारों अनुयोगोंमेंसे प्रथमानुयोग हमारे पुराण पुरुषोंकी आत्मसाधनाका परिचय प्रदान कर हमें संसारकी विचित्रता, पुण्य-पापका फल और महान पुरुषोंकी प्रवृत्तिका दिग्दर्शन कराते हुए भव्य जीवोंको स्वभाव सन्मुखताकी प्रेरणा ही इसका एकमात्र प्रयोजन है।

हमारे परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं तद्भक्त पूज्य बहिनश्री चम्पाबेनको इन महापुराण पुरुषोंके प्रति सहज अहोभाव उल्लसित होता था, जिनका प्रमाण है पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचनोंमें पुराणोंके अनेक उदाहरण एवं तीर्थधाम सुवर्णपुरीके जिनालयोंकी दिवारों पर उत्कीर्ण अनेक पौराणिक दृश्य।

प्रस्तुत संस्करणमें हमारे २३वें तीर्थंकर भगवान श्री पार्श्वनाथका जीवनचरित्र प्रस्तुत किया गया है। जिसमें दर्शाया हैं कि क्रोधके कारण कमठका जीव भगवान पार्श्वनाथके पूर्वभवमें उन पर उपसर्ग करता है फलस्वरूप नरक-तिर्यंचादि गतिके तीव्र दुःखको भोगता है। जिससे हमें क्रोध पर क्षमाकी विजयकी प्रेरणा प्राप्त होती है। भगवान पार्श्वनाथका सचित्र वर्णन जैन पौराणिक लघुकथा भाग-५ (पृ. ७९-९४) में दिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तकका गुजरातीमें लेखनकार्य ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, सोनगढ द्वारा जैन पुराणोंके आधारसे की है। ब्र. हरिभाईके माध्यमसे हमें अनेक प्रथमानुयोगका साहित्य प्राप्त हुआ है। इसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। इस पुस्तकका हिन्दी अनुवाद पंडित देवेन्द्रकुमार बिजौलिया द्वारा किया गया है। तदर्थ उनके प्रति भी आभार व्यक्त करते है। मुद्रणकार्य स्मृति ऑफसेट, सोनगढ द्वारा किया गया है।

२३वें तीर्थंकरका चरित्र अध्ययन कर सभी जीव उत्तम क्षमाभाव ग्रहण कर निज आत्महितकी साधनामे आगे बढ़े यही भावना सह...

पूज्य बहिनश्रीकी
१०६वीं जन्मजयंती
दि. १७-८-२०१९

साहित्यप्रकाशक समिति
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट,
सोनगढ (सौराष्ट्र)

अनुक्रमणिका

(१) दो भाई—मरुभूति और कमठ १

(२) मरुभूति हाथी तथा कमठ—सर्प
(हाथीके भवमें सम्यक्त्वकी प्राप्ति) ९

(३) हाथी बारहवें स्वर्गमें....सर्प पाँचवीं नरकमें १८

(४) अग्निवेग—मुनि तथा अजगर २१

(५) सोलहवें स्वर्गमें देव तथा छठ्ठी नरकका नारकी २४

(६) वज्रनाभि-चक्रवर्ती तथा शिकारी भील २४

(७) ग्रैवेयकमां अहमिन्द्र तथा
कमठ का जीव सातवीं नरकमें ३३

(८) आनंदकुमार—मुनिराज तथा कमठका जीव सिंह ३६

(९) आनंदमुनि आनतस्वर्गमें और सिंह नरकमें ५०

(१०) वाराणसीमें पारस प्रभुका अंतिम अवतार ५१

गर्भ-कल्याणक ५३

जन्म-कल्याणक ५५

राजकुमार पारसनाथ द्वारा नाग-नागिनको उपदेश ६३

वैराग्य, दीक्षा, संगमदेवका उपसर्ग ६९

भगवानको केवलज्ञान, उपदेश, कमठके जीव
(संगमदेव)को
सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति ७५

सम्मेदशिखरसे पारसप्रभुका मोक्षगमन ८१

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः।

भगवान पारसनाथ

[1]

दो भाई—मरुभूति और कमठ

प्रिय पाठको, आज मैं अपने तेईसवें तीर्थंकर पारसनाथ, भगवान की जीवन-कथा कहता हूँ। उन्होंने कैसी क्षमा धारण की तथा हाथी के भव में आत्मा को पहिचानकर किस प्रकार भगवान हुए, इसका वर्णन श्रवण करके तुमको आनन्द होगा, तथा तुमको भी वैसा करने की रुचि उत्पन्न होगी।

इस जम्बूद्वीप के मध्य महान मेरु पर्वत है; उसकी दक्षिण दिशा में भरतक्षेत्र है। अनेक वर्षों पहले वहाँ पोदनपुर में एक राजा राज्य करता था, जिसका नाम अरविन्द था।

इस राजा के मन्त्री को दो पुत्र थे—एक का नाम कमठ, दूसरे का नाम मरुभूति। कमठ ज्येष्ठ तथा मरुभूति लघु था। मरुभूति, वही अपने पारसनाथ का जीव है।

कमठ तथा मरुभूति दोनों सगे भाई थे, फिर भी कमठ क्रोधी तथा दुराचारी था, मरुभूति शान्त तथा सरल था। जिस प्रकार एक ही प्रकार के लोहे में से तलवार भी बनती है और बख्तर भी बनता

है। तलवार काटती है और बख्तर रक्षा करता है; उसी प्रकार एक ही माता के दो पुत्र—एक कुपुत्र तथा दूसरा सुपुत्र है। क्रोधी कमठ हमेशा दोषों को देखता है किन्तु मरुभूति विनय से सद्‌गुणों को देखता है। प्रिय पाठको! आगे चलकर आपको पता चलेगा कि क्रोधी जीव का अहित होता है तथा सद्‌गुणों से जीव कितना सुखी होता है।

मन्त्री के दोनों पुत्र साथ में खेलते हैं, साथ में पढ़ते हैं; ऐसा करते हुए दोनों पुत्र युवावस्था को प्राप्त हुए, दोनों के विवाह हो गये। वे जाति के ब्राह्मण थे, अभी इनको जैनधर्म के संस्कार प्राप्त नहीं हुए थे। इसलिए आत्मा की पहिचान भी नहीं हुई थी।

एक बार सिर में सफेद बाल देखकर मन्त्री ने राजा से कहा कि अब मेरी वृद्धावस्था आ रही है। अतः मुझे आत्मा का हित करना है; अब मैं अपने मन्त्री पद से निवृत्त होता हूँ; यह कहकर मन्त्री ने अपने मन्त्री पद का त्याग करके एक मुनि के समीप दीक्षा ग्रहण कर ली। राजा ने उसके लघु पुत्र मरुभूति को मन्त्री बनाया। कमठ अपने दुष्ट स्वभाव के कारण मन्त्रीपद से वंचित रहा। छोटे भाई मरुभूति को मन्त्री पद मिला और मैं बड़ा हूँ किन्तु मुझे मन्त्री पद नहीं दिया गया। इसलिए कमठ को मरुभूति से ईर्ष्या होने लगी।

एक समय राजा अरविन्द दूसरे राजा के साथ लड़ने गया, साथ में मन्त्री मरुभूति को भी ले गया। राजा तथा मन्त्री दोनों चले जाने से दुष्ट कमठ स्वयं राजा हो, इस प्रकार वर्तन करने लगा, प्रजा को कष्ट देने लगा। मरुभूति की पत्नी अति सुन्दर थी, उसे देखकर कमठ मोहित हो गया। अरे रे, अपने लघु भ्राता की पत्नी तो पुत्री के समान होती है, किन्तु फिर भी विषयान्ध जीव उस पर खराब

दृष्टि रखने लगा। धिक्कार है ऐसे विषयों को! इसलिए शास्त्र कहते हैं कि हे जीव! विष जैसे विषयों को तो तू दूर से ही त्याग कर।

मरुभूति की अति सुन्दर पत्नी के ऊपर मोहित कमठ ने अपने मन की बात अपने मित्र से कही; उसके मित्र ने ऐसा दुराचार करने के लिये रोका तथा समझाया; ऐसे पापकर्मों से जीव नरक में जाता है, यहाँ पर भी उसकी निन्दा होती है, इसलिए हे मित्र! तू तेरी शिक्षा को मानकर ऐसे दुष्ट विचार का त्याग कर दे। किन्तु पापी कमठ ने अपने मित्र की एक भी शिक्षा नहीं मानी; और कहने लगा कि यदि यह सुन्दरी मुझे प्राप्त न हुई तो मैं मर जाऊँगा।

अन्त में मरुभूति की सुन्दर पत्नी को कपटपूर्वक एक बाग में बुलाकर दुष्ट कमठ ने उसके साथ दुराचार किया। राजा भी वहाँ नहीं था, अत: शिकायत भी किसके पास करना?

अनेक दिवस व्यतीत होने के बाद, लड़ाई का कार्य मरुभूति को सौंपकर अरविन्द राजा ने पोदनपुर आकर राज्यभार ग्रहण किया। प्रजा से कमठ के दुराचार की बात राजा ने सुनी, इससे राजा को कमठ के ऊपर अति क्रोध उत्पन्न हुआ; ऐसे अन्यायी दुष्ट व्यक्ति की मेरे राज्य में कोई आवश्यकता नहीं, इससे मेरा राज्य कलंकित होता है, ऐसा विचार करके कमठ को कठोर दण्ड देकर, काला मुँह करके, गधे पर बैठाकर नगर के बाहर निकाल दिया। पापी कमठ के यह हाल देखकर नगरवासी यह कहने लगे कि देखो, पापी जीव अपने पाप का फल भोग रहा है; इसलिए पाप से दूर रहना चाहिए।

कमठ को नगर से निष्कासित होने का अति दु:ख हुआ। वह तापस लोगों के मठ में जाकर बाबा बनकर कुगुरुओं की सेवा

करने लगा। वहाँ पर किसी की लम्बी जटा थी, किसी के शरीर पर राख लगी हुई थी, कोई मृगचर्म के ऊपर बैठा था, तो कोई पंचाग्नितप करता था; कमठ ऐसे कुगुरुओं की सेवा करने लगा। उसको कुछ ज्ञान तो था नहीं, वैराग्य भी नहीं था। अज्ञान तथा क्रोध से हाथ में एक बड़ा पत्थर उठाकर खड़ा-खड़ा तप करने लगा। इसके बाद क्या हुआ ?..... इसको जानने से पहिले अपन इसके भाई मरुभूति की खोज कर लें।

❁ ❁ ❁

युद्ध में गया हुआ मरुभूति जब वापस आया, तब अपने बड़े भाई कमठ के दुराचार की बात मालूम हुई। राजा ने कमठ को नगर से बाहर निकाल दिया, यह जानकर अत्यन्त दुःखी हुआ। भाई के ऊपर मरुभूति ने क्रोध नहीं किया किन्तु इससे विपरीत कमठ से मिलने की तथा घर वापस लाने की इच्छा हुई। मरुभूति राजा के समीप जाकर निवेदन करने लगा कि महाराज! मेरे भाई का अपराध क्षमा करो तथा उसको राज्य में वापस लाने की मुझे अनुमति प्रदान करो।

राजा ने कहा—भाई! तू अति सज्जन है किन्तु कमठ दुष्ट है; एक ही घर में अमृत तथा विष का संयोग हो गया है। कमठ तेरा भाई है किन्तु उसने जो खराब तथा अन्यायी कार्य किया, उसका दण्ड देना ही चाहिए था, इसी में राज्य की शोभा है, इसलिए तू चिन्ता मत कर और घर जा।

घर आकर भी मरुभूति को अपने भाई के बिना चैन नहीं पड़ा; इसलिए वह अपने भाई से मिलने के लिये जाने लगा। राजा ने भी उसके पास नहीं जाने के लिये खूब समझाया किन्तु मरुभूति नहीं

माना। बड़े भाई के मोह के वशीभूत होकर उसकी खोज करने लगा; और उससे क्षमा माँगने के लिय मरुभूति चला। रे... बन्धुप्रेम का मोह कैसा! जीवों को मोह का बन्धन तोड़ना कठिन लगता है।

मरुभूति अपने भाई को ढूँढ़ता हुआ जहाँ कमठ रहता था, वहाँ आ पहुँचा। अपने भाई को बाबा के वेश में ऐसा झूठा तप करते हुए देख उसे अत्यन्त दुःख हुआ। कमठ के समीप जाकर मरुभूति हाथ जोड़कर निवेदन करने लगा कि भाई! तुम्हारे बिना मुझे अच्छा नहीं लगता। मैंने राजा से खूब निवेदन किया किन्तु उन्होंने क्षमा प्रदान नहीं की। अब जो हुआ, वह हो गया; अब इस झूठे वेष का त्याग कर दो; ऐसे कुगुरुओं के साथ रहने में, ऐसे झूठे तप करने में जीव का किंचित् भी भला होनेवाला नहीं, इसलिए इसका त्याग कर दो। आप मेरे साथ चलो, आप मेरे ज्येष्ठ भ्राता हो, मेरे प्रति क्रोध न करके मुझे क्षमा करो—इस प्रकार कहकर मरुभूति ने अपने ज्येष्ठ बन्धु कमठ को वन्दन किया।

परन्तु वह तो क्रोधी कमठ था! वह अपने स्वभाव का किस प्रकार त्याग कर सकता है ? सज्जन अपने सरल स्वभाव का त्याग करते नहीं तथा दुर्जन अपने दुष्ट स्वभाव का त्याग करते नहीं। जिस प्रकार कुल्हाड़ी से काटने पर भी चन्दन तो सुगन्ध ही प्रदान करता है, उसी प्रकार दुष्टजनों के द्वारा दुःख देने पर भी सज्जन अपनी शान्ति का त्याग नहीं करते। देखो, कमठ ने कितना खराब कार्य किया, फिर भी मरुभूति ने अपना प्रेम तथा विनय नहीं छोड़ा; प्रेम से उसके पास क्षमा माँगी।

— किन्तु दुष्ट कमठ का क्रोध तो उल्टा बढ़ गया। मेरा ऐसा अपमान मरुभूति के ही कारण से हुआ है, तथा यहाँ भी यह मुझे

कष्ट देने के लिये आ गया है। मेरा पाप यहाँ सभी के बीच में कह देगा।—ऐसा विचार करके क्रोधित होकर कमठ ने जो अपने हाथ में तप करने के लिये पत्थर उठा रखा था; वही पत्थर मरुभूति के सिर पर जोर से पटक दिया। पत्थर के पड़ते ही मरुभूति का सिर फट गया, सिर में से खून की धाराएँ बहने लगीं और थोड़ी देर में मरुभूति की मृत्यु हो गयी। अरे रे, क्रोध के कारण सगे भाई के हाथ सगे भाई की मृत्यु हुई—रे संसार! जिस प्रकार सर्प के पास से कभी अमृत प्राप्त नहीं होता; इसी प्रकार क्रोध में से कभी सुख प्राप्त होनेवाला नहीं। क्षमारूप जीव का स्वभाव है, उसके सेवन से ही सुख प्राप्त होता है।

पत्थर के द्वारा जब मरुभूति की मृत्यु हुई, तब उसको आर्तध्यान हो गया; अभी आत्मा का ध्यान तो उसको था नहीं। इसलिए आर्तध्यान के खराब भावों से मरकर वह तिर्यंचगति में सम्मेदशिखर के समीप वन में एक बड़ा हाथी हुआ।

[प्रिय पाठकों! हाथी हुए इस पारसनाथ भगवान के जीव को, उस हाथी के भव में ही आत्मज्ञान प्राप्त होगा। किन्तु इसके पहले, कमठ तथा राजा अरविन्द का क्या हुआ, यह जान लें।]

कमठ ने पत्थर के द्वारा अपने भाई को कुचलकर मार डाला—यह बात जब आश्रम के तापसों ने सुनी, तब कमठ को उन्होंने पापी समझकर आश्रम से बाहर निकाल दिया। पापी कमठ चोरों के साथ रहने लगा और चोरी करने लगा। चोरी करते हुए पकड़ा गया, तब उसे खूब पीटा गया, इससे वह अत्यन्त दुःखी हुआ, किन्तु उसने अपने भावों को सुधारा नहीं; अन्त में क्रोध से मरकर वह कुक्कट नाम का भयंकर जहरीला सर्प हुआ।

मरुभूति तो मरकर हाथी हो गया है, किन्तु इस ओर राजा अरविन्द को उसकी कोई खबर नहीं। वह तो चिन्ता करता है कि मरुभूति अब तक वापस क्यों नहीं आया? इतने में वहाँ एक अवधिज्ञानी मुनिराज पधारे, उनका उपदेश श्रवण करके राजा अत्यन्त आनन्दित हुआ। मुनिराज से राजा ने पूछा कि मेरा मन्त्री मरुभूति कहाँ है? वह वापस क्यों नहीं आया?

तब मुनिराज ने कहा कि हे राजन्! मरुभूति तो अपने भाई कमठ के हाथ से मारा गया है.... दुःख से कुमरण करके हाथी हुआ है।

यह सुनते ही राजा को अत्यन्त दुःख हुआ, यह विचार करने लगा कि अरे, यह संसार कैसा है! दुष्ट का संग करने से मरुभूति दुःखी हुआ।

मुनिराज ने वैराग्य से समझाया कि हे राजा! इस संसार के जन्म-मरण को कोई भी मिथ्या नहीं कर सकता। आत्मा का ज्ञान जहाँ तक नहीं करे, वहाँ तक जीव को ऐसे जन्म-मरण करना ही पड़ते हैं। अपने हित के लिये जीव को दुष्ट पुरुषों का संग त्याग करके ज्ञानी धर्मात्माओं का संग करना चाहिए।

राजा उदास होकर खिन्न मन से घर पर आया; एक बार राजमहल की अट्टालिका के ऊपर राजा बैठा था, उस समय मुनिराज के उपदेश को बारम्बार याद करके वैराग्य-चिन्तवन करता था। इतने में एक घटना हुई। आकाश में सुन्दर रंग-बिरंगे बादल एकत्रित होने लगे, थोड़ी देर में एक अत्यन्त सुन्दर जिनमन्दिर हो, ऐसा दृश्य निर्मित हो गया। ऐसे अद्भुत दृश्य को देखकर राजा विचार करने लगा कि अहा, आकाश में ऐसा रमणीय जिनमन्दिर!

उसको देखकर राजा ने विचार किया कि मैं भी अपने राज्य में ऐसे जिनमन्दिर का निर्माण कराऊँगा। ऐसा विचार करके उस मन्दिर का चित्र लेने के लिये तैयार हुआ, किन्तु राजा ने अभी कलम हाथ में ली ही थी कि वहाँ बादल सभी बिखर गये और अद्भुत मन्दिर की रचना लुप्त हो गयी।

राजा तो यह देखकर आश्चर्यचकित हो गया... अरे! ऐसा अस्थिर संसार! संयोग ऐसे क्षणभंगुर! यह राजपाट-रानी-शरीर यह सभी संयोग बादल के समान क्षणिक और विनाशीक हैं। अरे, ऐसे अस्थिर इन्द्रिय-विषयों में दिन-रात तन्मय रहना-यह जीव को शोभा नहीं देता। यह शरीर क्षणभंगुर है, भोग दुःख के ही देनेवाले हैं। जिसको अपना हित करना हो, उसे ऐसे भोगों के मोह में जीवन व्यतीत करना ठीक नहीं है। जिस प्रकार यह बादल एक क्षण का भी विलम्ब किये बिना लोप हो गये, इसी प्रकार मैं भी अब तो एक क्षण का भी विलम्ब किये बिना इस संसार का त्याग करके मुनि होकर आत्मध्यान के द्वारा कर्मों के बादलों को अदृश्य कर दूँगा।

—इस प्रकार अत्यन्त वैराग्यपूर्वक राजपाट का त्याग करके अरविन्द राजा वन में चले गये और दिगम्बर गुरु के समीप दीक्षा लेकर मुनि हो गये। वह अरविन्द मुनिराज आत्मा की साधना करते हुए देश-देशान्तर विचरण करके अनेक तीर्थों की यात्रा करते हुए जीवों को प्रतिबोध देते हैं। धन्य मुनिराज!

[2]

हाथी के भव में सम्यक्त्व की प्राप्ति

[मरुभूति-हाथी तथा कमठ-सर्प]

[अपने तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान की कथा चल रही है। मरुभूति तथा कमठ, यह दोनों भाई थे; कमठ ने क्रोध से मरुभूति को मार डाला; मरुभूति मरकर हाथी हुआ है, कमठ का जीव सर्प बना है। इनके राजा अरविन्द वैराग्य प्राप्त करके मुनि हुए हैं... मुनिराज अनेक तीर्थों की यात्रा करते हुए ग्राम-नगरों में विचरण कर अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोध देते हैं। अब हाथी का जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है—इसका आनन्दकारी वर्णन पढ़िये।]

सम्मेदशिखर.... यह अपने जैनधर्म का महान तीर्थ है, अनन्त जीव यहाँ से सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं; इसकी यात्रा करने से सिद्धपद का स्मरण हो उठता है। अनेक मुनि यहाँ आत्मा का ध्यान करते हैं।

ऐसे सम्मेदशिखर महान तीर्थ की यात्रा करने के लिये एक विशाल संघ चला जा रहा है। इस यात्रा में हजारों श्रावक हैं; कितने ही छोटे-छोटे बालक भी उत्साह से यात्रा करने जा रहे हैं; कितने ही दिगम्बर मुनिराज भी संघ के साथ विहार कर रहे हैं। रत्नत्रयधारी यह मुनिराज किसी समय धर्मकथा कहते हैं तो किसी समय आत्मा का स्वरूप समझाते हैं, वह सुनकर सभी को अत्यन्त आनन्द होता है; किसी समय भक्तिपूर्वक मुनिराज को आहारदान देने का लाभ प्राप्त होने से श्रावकों को महान हर्ष होता है; आपस में सभी साधर्मी एक-दूसरे से धर्मचर्चा करते हैं, पंच परमेष्ठी का गुणगान करते हैं—इस प्रकार अत्यन्त आनन्दपूर्वक विशाल संघ

सम्मेदशिखर की यात्रा करने के लिये जा रहा है!

जो अरविन्द राजा दीक्षा लेकर मुनि हुए थे, वह अरविन्द-मुनिराज भी इस संघ के साथ हैं। चलते-चलते संघ ने एक वन में पड़ाव डाला। शान्त वन हजारों मनुष्यों के कोलाहल से गूंज उठा... जंगल में मानों नगर का निर्माण हो गया हो। अरविन्द मुनिराज एक वृक्ष के नीचे आत्मा के ध्यान में बैठे हुए थे। इतने में अचानक एक घटना हुई... क्या हुई? सो सुनो।

एक विशालकाय हाथी पागल होकर चारों ओर दौड़ लगाने लगा। लोग इधर-उधर भागने लगे। कौन है यह हाथी? थोड़े-से भवों के बाद तो यह हाथी पार्श्वनाथ भगवान बननेवाला है। पूर्व भव में मरुभूति था, जो कि मरकर हाथी बना है। वही हाथी यह है। इसका नाम वज्रघोष है; यह हाथी इस वन का राजा है, जो कि भान नहीं होने से जंगल में भटक रहा है। पूर्वभव की इसकी भाभी (कमठ की पत्नी) भी मरकर इसी वन में हथिनी हुई है। सुन्दर वन में एक विशाल सरोवर है, जिसमें हाथी रोज स्नान करता है, वन में मीठे फल-फूल खाकर हथिनियों के साथ क्रीड़ा करता है। निर्जन वन में मानव कभी-कभी दिखलायी देते हैं। जिस वन में यह हाथी रहता था, उसी वन में यात्री संघ ने पड़ाव डाल दिया। वन में मानवों का भारी कोलाहल होने लगा। निर्जन वन में इतने मानव तथा वाहन हाथी ने कभी देखे नहीं थे; इसलिए मानवों को देखकर हाथी घबरा गया, पागल होकर चारों ओर दौड़-घूम करने लगा, जो कोई भी इसकी दौड़-घूम की चपेट में आ जाए, उसको मारने लगा। लोग तो चिल्लाकर-हाहाकार करते हुए चारों ओर हाथी के डर के मारे भागने लगे। हाथी ने किसी को पाँव के नीचे

कुचल दिया तो किसी को सूंढ़ में पकड़कर उछाल दिया; रथों को चकनाचूर-तोड़फोड़ डाले, वृक्षों को उखाड़-उखाड़कर फेंकने लगा। अनेक मानव भयभीत होकर मुनिराज की शरण में पहुँच गये।

पागल हाथी चारों ओर घूमता-घूमता जहाँ अरविन्द मुनिराज बैठे थे, उस ओर चिंघाड़ता हुआ दौड़ा। लोगों को भय लगा कि अरे, यह हाथी न जाने मुनिराज का क्या कर डालेगा!

मुनिराज तो शान्त होकर बैठे हैं। उनको देखते ही सूंढ़ ऊँची करके हाथी उनकी तरफ दौड़ा... किन्तु....

अरविन्द मुनिराज की छाती में एक चिह्न देखते ही हाथी एकदम शान्त हो गया... उसको ऐसा लगा कि अरे! इनको तो मैंने कहीं देखा है... यह मेरे कोई जाने-पहिचाने तथा हितस्वी हों, ऐसा लगता है—ऐसे विचार में हाथी एकदम शान्त होकर खड़ा रह गया; उसका पागलपन दूर हो गया; वह मुनिराज के सामने सूंढ झुकाकर बैठ गया।

लोग तो आश्चर्यचकित हो गये कि अरे, मुनिराज के समीप आते ही यह पागल हाथी अचानक शान्त कैसे हो गया! यह दृश्य देखते ही चारों ओर से लोग दौड़कर मुनिराज के पास पहुँच गये। मुनिराज ने अवधिज्ञान के द्वारा हाथी के पूर्व भव को जान लिया; अचानक शान्त हुए हाथी को सम्बोधन करके कहने लगे—अरे बुद्धिमान! यह पागलपन तुझे शोभा नहीं देता। यह पशुता, यह हिंसा, इसका तू त्याग कर! पूर्व भव में तू मरुभूति था; तब मैं अरविन्द राजा था... मैं मुनि हो गया हूँ; तू मेरा मन्त्री था, किन्तु आत्मा का भान भूलकर आर्तध्यान से तू पशु पर्याय में उत्पन्न हुआ... अब तू चेत... आत्मा की पहिचान कर।

मुनिराज के अमृतमय वचन सुनकर हाथी को अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न हुआ, उसको अपने पूर्वभव का (जातिस्मरण) ज्ञान हो गया, अपने दुष्कर्म के लिये उसको महान पश्चाताप होने लगा, उसकी आँखों में से अश्रुओं की धारा बहने लगी, विनय से मुनिराज के चरणों में मस्तक झुकाकर उनके सामने देखने लगा... उसके ज्ञान का अपने आप इतना उघाड़ हो गया कि वह मनुष्य की भाषा समझने लगा... मुनिराज की वाणी श्रवण करने की उसको जिज्ञासा जागृत हुई।

मुनिराज ने देखा कि इस हाथी के परिणाम अभी विशुद्ध होकर इसको आत्मा को समझने की तीव्र जिज्ञासा प्रगट हुई है... तथा यह एक होनहार तीर्थंकर है... इसलिए अत्यन्त प्रेम से—वात्सल्य से उस हाथी को उपदेश देने लगे; अरे हाथी! तू शान्त हो। यह पशु पर्याय तेरा स्वरूप नहीं है, तू तो देह से भिन्न चैतन्यमय आत्मा है। आत्मा के ज्ञान से रहित अनेक भवों में अनेक दुःख भोगे हैं, अब आत्मा के स्वरूप को पहिचानकर सम्यग्दर्शन प्रगट कर। सम्यग्दर्शन ही जीव को महान सुखकारी है। राग तथा ज्ञान की तन्मयता के अनुभव का अविवेक त्याग दे... त्याग दे। तू प्रसन्न हो... सावधान हो... तथा सदा उपयोगरूप स्वद्रव्य ही मेरा है, ऐसा तू अनुभव कर। इससे तुझे अत्यन्त आनन्द होगा।

हाथी अत्यन्त भक्तिपूर्वक श्रवण करता है। मुनिराज के मुख से आत्मा के स्वरूप की, सम्यग्दर्शन की बात का श्रवण करते हुए उसे अत्यन्त हर्षोल्लास होता है, उसके परिणामों में अत्यन्त निर्मलता होती जाती है... उसके अन्तर में सम्यग्दर्शन की तैयारी चल रही है।

मुनिराज हाथी को आत्मा का परम शुद्धस्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि हे जीव! तेरा आत्मा अनन्त गुणरत्नों का भण्डार है... यह हाथी का विशाल शरीर, यह तो पुद्गलों का है, यह तू नहीं है। तू तो ज्ञानस्वरूप है। तेरे ज्ञानस्वरूप में पाप तो नहीं है किन्तु पुण्य का शुभराग भी नहीं है; तू तो वीतरागी आनन्दमय है।—ऐसे अपने स्वरूप का तू अनुभव कर... उसकी श्रद्धा करके सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर।

जगत में सम्यग्दर्शन ही साररूप है; यही मोक्ष का सोपान है, यही धर्म की नींव है। सम्यग्दर्शन के बिना कोई भी धर्मक्रिया हो सकती नहीं; सम्यग्दर्शन से रहित सभी क्रियाएँ व्यर्थ हैं। मिथ्यात्व के दावानल में सम्पूर्ण संसार जल रहा है, उसमें से यह सम्यग्दर्शन ही बचानेवाला है। वीतराग-सर्वज्ञ अरिहन्त देव, रत्नत्रयधारक दिगम्बर मुनिराज, तथा हिंसा से रहित वीतरागभावरूप धर्म—ऐसे देव-गुरु-धर्म की पहिचान करके तू श्रद्धा कर, अत्यन्त भक्ति से उनका आदर करके, उन्होंने जैसा आत्मा का शुद्ध स्वरूप बतलाया है, वैसा तू पहिचान... ऐसे सम्यग्दर्शन से तेरा परम कल्याण होगा।

मुनिराज ने इस प्रकार अनेक युक्तियों द्वारा सम्यग्दर्शन का उपदेश दिया... उसका श्रवण करने से हाथी के परिणाम अन्तर्मुख हुए... अन्तर में अपने आत्मा का सच्चा स्वरूप देखकर उसको सम्यग्दर्शन हुआ... परम आनन्द का अनुभव हुआ... उसको ऐसा लगा कि—'अहा, अमृत का समुद्र मेरे आत्मा में हिलोरें ले रहा है... परभावों से भिन्न सच्चा सुख मेरे आत्मा में भरा है, क्षण मात्र के ऐसे आनन्द का अनुभव होने से अनन्त भवों की थकान दूर हो जाती है।' ऐसे आत्मा का बारम्बार अनुभव करने की इच्छा हुई...

उपयोग बारम्बार अन्तर में एकाग्र होने लगा। ऐसे अनुभव की अचिन्त्य अपार महिमा का कोई पार नहीं था। बारम्बार उसको ऐसा प्रमोद हो रहा था कि 'अहो! इन मुनिराज ने अद्‌भुत उपकार करके आत्मा का मूलस्वरूप मुझे समझाया। आत्म-उपयोग स्वरूप की ओर झुकने से सहज निर्विकल्प स्वरूप अनुभव में आया... चैतन्य प्रभु अपने 'एकत्व' में आकर निजानन्द में डोलने लगा... वाह! आत्मा का स्वरूप कोई अद्‌भुत है। परम तत्त्व को प्राप्त करके, अपने चैतन्य प्रभु को मैंने अपने में ही देख लिया है।

—इस प्रकार सम्यग्दर्शन होने के बाद हाथी के आनन्द का कोई पार न रहा। उसकी आनन्दमयी चेष्टाएँ एवं आत्मशान्ति को देखकर मुनिराज भी समझ गये कि इस हाथी के जीव ने आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है; भव को छेद करके यह मोक्ष के मार्ग में आ गया है। मुनिराज ने हाथ उठाकर हाथी को आशीर्वाद दिया। संघ के हजारों मानव यह दृश्य देखकर अति प्रसन्न हुए। एक क्षण में यह क्या हो गया, इसको सभी आश्चर्य से देख रहे थे।

आत्मा का ज्ञान होने के बाद हाथी तो अत्यन्त भक्तिभाव से मुनिराज का उपकार मानने लगा... अरे, पूर्व में आत्मभान के बिना आर्तध्यान करने से मैं पशु-पर्याय को प्राप्त हुआ, किन्तु अब इन मुनिराज के प्रताप से मुझे आत्मभान हो गया है; इस आत्मा के ध्यान के द्वारा अब मैं परमात्मा हो जाऊँगा।—ऐसा विचारकर वह हाथी सूंढ उठाकर मुनिराज को नमस्कार करता है।

[देखो तो सही, बन्धुओं! अपना जैनधर्म कितना महान है कि उसके सेवन से पशु भी आत्मज्ञान प्राप्त करके परमात्मा हो सकते हैं। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा होने की शक्ति विद्यमान है—ऐसा

अपना जैनधर्म बतलाता है। वाह... जैनधर्म!]

मुनिराज के निकट सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझकर; हाथी के साथ-साथ अन्य अनेक जीवों ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया। जिस प्रकार तीर्थंकर अकेले मोक्ष में नहीं जाते, अन्य अनेक जीव भी उनके साथ मोक्ष में जाते हैं; उसी प्रकार यहाँ तीर्थंकर के आत्मा को सम्यग्दर्शन प्राप्त होते समय, अन्य अनेक जीवों ने भी उनके साथ सम्यग्दर्शन प्राप्त किया; चारों ओर धर्म का जय-जयकार होने लगा। थोड़े समय पहले जो हाथी पागल होकर हिंसा करता था, वही हाथी अब आत्मज्ञानी होकर शान्त अहिंसक हो गया है; मुनिराज के निकट धर्म श्रवण की अभिलाषा से आतुरतापूर्वक उनके सामने देख रहा है। अनेक श्रावक भी उपदेश श्रवण करने के लिये बैठे हुए हैं।

श्री मुनिराज ने मुनिधर्म तथा श्रावकधर्म का उपदेश दिया। सम्यग्दर्शन तथा आत्मज्ञान होने के बाद जब चारित्रदशा होती है अर्थात् आत्मा का प्रचुर स्वसंवेदन होने लगता है, तब मुनिदशा होती है। यह मुनि उत्तम क्षमादि दस प्रकार के धर्मों का पालन करते हैं, अहिंसादिक पाँच पाप उनके किंचित् भी नहीं होते अर्थात् अहिंसादिक पाँच महाव्रत उनको होते हैं। सम्यग्दर्शन होने के बाद जो जीव मुनि नहीं हो सकते, वह जीव श्रावकधर्म का ग्रहण करते हैं; उनके आत्मज्ञानसहित अहिंसा इत्यादि पाँच अणुव्रत होते हैं। तिर्यंचगति में भी श्रावकधर्म का पालन हो सकता है। इसलिए हे गजराज! तुम श्रावकधर्म अंगीकार करो।

मुनिराज से धर्म का उपदेश श्रवण करके अनेक जीवों ने व्रत धारण किये। हाथी को भी ऐसी भावना जागृत हुई कि अगर मैं

मानव होता तो मैं भी उत्तम मुनिधर्म को अंगीकार करता; इस प्रकार मुनिधर्म की भावनासहित श्रावकधर्म अंगीकार किया; अर्थात् मुनिराज के चरणों में नमस्कार करके उसने पाँच अणुव्रत अंगीकार किये... वह श्रावक बना।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करके श्रावक होने के बाद वज्रघोष हाथी बारम्बार मस्तक झुकाकर अरविन्द मुनिराज को नमस्कार करने लगा तथा उपकार मानने लगा। हाथी की ऐसी धर्मचेष्टा देखकर श्रावक बहुत हर्षित हुए। जब मुनिराज ने घोषणा की कि—इस हाथी का जीव आत्मा की प्राप्ति करता हुआ भरतक्षेत्र में २३वाँ तीर्थंकर होगा—तब तो सभी के हर्ष का पार नहीं रहा; हाथी को धर्मात्मा समझकर अत्यन्त वात्सल्यतापूर्वक उसको निर्दोष आहार देने लगे।

यात्रीसंघ ने थोड़े समय तक उस वन में विश्राम करने के बाद सम्मेदशिखर की ओर प्रयाण किया; हाथी का जीव कुछ भवों के बाद इसी सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त करनेवाला है, जिसकी कि यात्रा करने संघ जा रहा है। अरविन्द मुनिराज भी संघ के साथ विहार करने लगे, तब हाथी भी अत्यन्त विनयपूर्वक अपने गुरु को पहुँचाने के लिये थोड़ी दूर तक पीछे-पीछे गया... अन्त में बारम्बार मुनिराज को नमस्कार करता हुआ गद्गद् भावों से वापस अपने वन में आया।

हाथी अब पंचव्रत सहित निर्दोष जीवन व्यतीत करता है; स्वयं ने जिस शुद्धात्मा का अनुभव किया, उसको बारम्बार चिन्तवन करता है। किसी भी जीव को वह दुःखी नहीं करता, जिससे हिंसा हो, वैसा भोजन वह नहीं करता है; शान्तभाव से रहकर सूखे हुए

घास–पत्ते–फल खाता है; किसी समय उपवास भी करता है। चलते समय देख–देखकर पाँव रखता है। हथनियों का संग उसने त्याग दिया। विशालकाय होने के कारण अन्य जीवों को दु:ख नहीं पहुँचे, इसलिए अपने शरीर को अधिक चलाता नहीं है, वन के प्राणियों के साथ शान्ति से रहता है।

पूर्वभव का उसका भाई कमठ–जो कि क्रोध से मरकर तीव्र विषैला सर्प बना, वह भी इसी वन में रहता है और जीव–जन्तुओं को मारकर खाता रहता है।

एक दिन हाथी को प्यास लगी, इसलिए वह पानी पीने के लिये सरोवर के समीप गया; तालाब के किनारे वृक्षों पर अनेक बन्दर रहते थे, वह इस हाथी को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुये। सरोवर का निर्मल जल देखकर हाथी पानी पीने के लिये सरोवर में उतरा; किन्तु उसके पाँव गहरे कीचड़ में धँस गये.... ज्यों–ज्यों कीचड़ में से निकलने का प्रयास करता; त्यों–त्यों पाँव अधिक कीचड़ में गहरे धँसते गये। अपने को कीचड़ में से निकालना अशक्य समझकर हाथी ने आहार–पानी का त्याग करके समाधिमरण की तैयारी की; वह पंचपरमेष्ठी का स्मरण करता हुआ आत्मा का चिन्तवन करने लगा।

हाथी को कीचड़ में फँसा हुआ देखकर वन के बन्दर दौड़धूप करते हुए हाथी को बचाने के लिये किकियारी करने लगे... किन्तु छोटे–छोटे बंदर उस विशालकाय हाथी को किस प्रकार बाहर निकाल सकते थे? इतने में कमठ का जीव जो सर्प बना था, वह फूँकार करता हुआ वहाँ आया; हाथी को देखते ही पूर्वभव के वैर के संस्कारों के कारण तीव्र क्रोधित होकर दौड़कर हाथी को डस

लिया। कालकूट विषवाले सर्प के द्वारा उसे डसे जाने के कारण हाथी को तीव्र विष चढ़ गया और कुछ ही समय में उसका मरण हो गया। परन्तु उस समय उसने पूर्वभव के समान आर्तध्यान नहीं किया, किन्तु आत्मज्ञानसहित धर्म की उत्तम भावना का चिन्तवन करते हुऐ समाधिमरण करके शरीर को त्यागकर बारहवें स्वर्ग में देव बना।

सर्प ने हाथी को डसा देखकर बन्दरों ने अत्यन्त क्रोधयमान होकर उस सर्प को मार डाला; पापी सर्प आर्तध्यान से मरकर पाँचवें नरक में गया। एक समय के दोनों सगे भाई, किन्तु अपने-अपने पुण्य-पाप के अनुसार एक स्वर्ग में जाता है तो दूसरा नरक में जाता है।

[3]

हाथी बारहवें स्वर्ग..... सर्प पांचवीं नरक में

तेईसवें तीर्थंकर श्री पारसनाथ भगवान का जीवन चारित्र अपन पढ़ रहे हैं। तीर्थंकर इत्यादि महान पुरुषों के जीवन में से, आत्मा की आराधना किस प्रकार करना, वही अपने को सीखना है। पाप के फल में नरकादि के भयंकर दु:ख प्राप्त होते हैं; इसलिए उनका त्याग करना; पुण्य के फल में स्वर्गादिक प्राप्त होता है—ऐसा ज्ञान करके आत्मा के ज्ञानसहित वीतरागभाव से मोक्ष प्राप्त होता है—इसलिए उसकी उपासना करना।

अपने चरित्रनायक का जीव पहले मरुभूति था, फिर हाथी बनकर मुनिराज के उपदेश द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त किया; सर्प के काटने पर समाधिमरण करके बारहवें स्वर्ग में देव हुआ—उसका

नाम शशिप्रभदेव हुआ। स्वर्ग की दिव्य विभूति को देखकर आश्चर्य प्राप्त करके अवधिज्ञान से देखा कि मैंने हाथी के पूर्वभव में धर्म की आराधनासहित जो व्रत पाले, उनका फल है; ऐसा जानकर उसको धर्म के प्रति विशेष बहुमान आया; पूर्वभव में आत्मज्ञान देनेवाले मुनिराज के उपकार को बारम्बार याद करके स्वर्ग में विराजमान शाश्वत जिनबिम्बों की पूजा की। देवलोक के रत्नमय शाश्वत वीतराग मूर्ति को देखते ही अतिशय आनन्द प्राप्त किया—ऐसा ही मेरा आत्मा है—इस प्रकार की भावना का चिन्तवन करता हुआ असंख्यात वर्ष तक देवलोक में रहा; इस अवधि में अनेक बार पंचमेरु; नन्दीश्वरद्वीप के शाश्वत जिनमन्दिरों की पूजा की; स्वर्ग में अनेक सम्यग्दृष्टि देव थे, उनके साथ धर्म की चर्चा करके अपने श्रद्धा-ज्ञान को दृढ़ करता रहता था। मनुष्य के समान प्रतिदिन भूख नहीं लगती थी, सोलह हजार वर्ष व्यतीत होने के बाद उन्हें खाने की इच्छा हुई, मन में अमृत का चिन्तवन करते ही उनकी भूख शांत हो गई। आठ महीने में एकबार श्वास लेता था। उन्हें चौथी नरक तक का अवधिज्ञान होने से वहाँ तक विक्रिया कर सकता था। उनका दिव्यरूप था, देव, देवियों का वैभव भी अपार था। असंख्य वर्षों तक ऐसे देवलोक के मध्य में रहते हुए भी वह जीव आत्मज्ञान को नहीं भूला। बाह्य वैभव से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव को समझता था। उसको बाहर में अनेक प्रकार के कल्पवृक्षों से सुख-सामग्री प्राप्त होती रहती थी, तथा अन्तर में अपने चैतन्य कल्पवृक्ष के सेवन से सच्चे सुख का अनुभव करता रहता था। जैनधर्म के प्रभाव से एक पशु भी देव हो गया, एवं थोड़े ही समय में वह भगवान हो जाएगा! अहा, जिसके प्रभाव से पशु भी परमात्मा हो जाता है—ऐसे जैनधर्म की जय हो! हमें भी संसार से छूटकर

परमात्मा होने के लिये जैनधर्म में बतलाये हुए आत्मा के स्वरूप की पहिचान करना चाहिए।

शशिप्रभदेव असंख्य वर्ष तक देवलोक में रहने के बाद उसको ज्ञात हुआ कि देवलोक के आयुष्य में अब मेरे छह मास ही शेष रह गये हैं;—तब वह आकुलित न होकर उसने धर्म के चिन्तन मैं अपना चित्त अधिक लगाना प्रारम्भ किया; शरीर से भिन्न आत्मा है—ऐसा तो वह जानता था, इसलिए स्वर्ग के वैभव में उसने कभी सुख माना ही नहीं, इसलिए स्वर्ग को छोड़कर मनुष्यलोक में आते हुए उसे दुःख नहीं हुआ, किन्तु ऐसी भावना जागृत हुई कि मनुष्य पर्याय धन्य है, मनुष्य पर्याय में जाकर मुनि होकर चारित्र अंगीकार करूँगा; मुनिदशा महा आनन्ददायक है।—इस प्रकार मुनिदशा की भावना का चिन्तवन करते हुए जिनेन्द्र भगवान के शरणपूर्वक उस जीव ने स्वर्ग से च्युत होकर मनुष्यलोक में अवतार धारण किया।—कहाँ जन्म लिया? इस प्रकरण को अब आप पढ़िये, इसके पहले कमठ का जीव कहाँ है, वह देख लेते हैं।

कमठ का जीव जो सर्प हुआ था, वह मरकर पाँचवीं नरक में गया, वहाँ असंख्य वर्ष तक अत्यन्त दुःखों को सहन किया। उसे भूख-प्यास असीम थी, उसके शरीर के प्रतिदिन हजारों टुकड़े हो जाते थे; लोहे का गोला भी पिघल जाए ऐसी ठण्ड थी; करवत तथा भाला से उसका शरीर छेदा-भेदा जाता था; आत्मा का ज्ञान तो उसे था नहीं, तथा अच्छे भाव भी नहीं थे, अज्ञान से तथा खराब भावों से वह बहुत ही दुःखी था। पूर्व भव के अपने भाई के प्रति क्रोध के संस्कार अभी भी उसने त्याग नहीं किये थे; क्रोधित अवस्था में ही नरक में से निकलकर विशाल भयंकर अजगर बना।

[4]

अग्निवेग-मुनि तथा अजगर

अपने चरित्रनायक भगवान पारसनाथ का जीव स्वर्ग में से च्युत होकर जम्बुद्वीप के विदेहक्षेत्र में जन्म लिया। इस जम्बुद्वीप के मध्य में महान मेरुपर्वत है; उसके पूर्व तथा पश्चिम की ओर विदेहक्षेत्र है। पूर्व की ओर के विदेह में सीमन्धर तथा युगमन्धर नाम के तीर्थंकर सदाकाल विराज रहे हैं तथा दिव्यध्वनि के द्वारा आत्मा का स्वरूप समझाते हैं। हजारों केवली-अरिहन्त भगवान तथा लाखों जिन-मुनिराज इस देश में विचरते हैं। वहाँ करोड़ों मनुष्य आत्मा की पहिचानपूर्वक धर्म की साधना करते हैं। इस देश की शोभा अद्‌भुत है। देव भी जहाँ भगवान के दर्शन करने आते हैं। वहाँ सच्चे धर्म के अलावा अन्य कोई भी असत्य धर्म का प्रचार नहीं है; स्थान-स्थान पर अरिहन्त भगवान के जिनमन्दिर हैं, उनमें मणि-रत्नों की अद्‌भुत मूर्तियाँ हैं। अन्यमत के मन्दिर वहाँ नहीं हैं। वहाँ दिगम्बर जैन साधु ही विचरण करते हैं, अन्य कुलिंगी साधु वहाँ नहीं हैं।

ऐसे सुन्दर विदेहक्षेत्र में पुष्कलावती देश के मध्य विजयार्ध पर्वत है। चक्रवर्ती जब छह खण्ड जीतने निकलते हैं, तब विजय का आधा भाग पूर्ण होने के बाद वह 'विजय-अर्ध' पर्वत आता है। इस विजयार्ध पर्वत के ऊपर अत्यन्त मनोहर शाश्वत जिनमन्दिर हैं। उसके ऊपर दोनों दिशाओं में विशाल-विशाल नगर की पंक्तिबद्ध श्रेणियाँ हैं, वहाँ विद्याधर मनुष्य रहते हैं, वह विद्याधर जैनधर्मालम्बी हैं।

इन विद्याधरों के एक नगर में विद्युतगति नामक राजा तथा

विद्युनमाला नाम की रानी थी; इन राजा–रानी के यहाँ पारसनाथ के जीव ने अवतार लिया, उनका नाम अग्निवेग था।

विदेहक्षेत्र में अवतरित अग्निवेग बचपन से ही आत्मज्ञानी थे। वे पूर्व भव से ही आत्मज्ञान साथ में लेकर आये थे। छोटे से ज्ञानी की बालचेष्टा देखकर सभी को अत्यन्त आनन्द होता था। राजकुमार अग्निवेग शान्त, उत्तम लक्षणवाला था; अपने मित्रों के साथ धर्म–चर्चा करता था, पंचपरमेष्ठी भगवन्तों के गुणगान करता था, जिनमन्दिर में बड़े–बड़े उत्सव करवाता था, इसी प्रकार बारम्बार तीर्थंकर भगवान की सभा में जाकर धर्मोपदेश श्रवण करता हुआ मुनिराजों की सेवा भी करता था।

एकबार वह वन में गया; वहाँ की शोभा को देखते–देखते अचानक उन्हें एक साधु दिखायी दिये। वह साधु आत्मचिन्तन में एकाग्र थे, मानो साक्षात् भगवान ही बैठे हों—ऐसी उनकी मुद्रा थी! मुनि को देखते ही अग्निवेग अत्यन्त आनन्दित हुआ, और समीप जाकर मुनि को वन्दन करके उनके निकट बैठकर आत्मा का विचार करने लगा कि अहो! ऐसी मुनिदशा धन्य है... आत्मा में एकाग्र होकर प्रचुर आनन्द का अनुभव करने की यह दशा है। अल्प काल में मुनिराज का ध्यान पूर्ण होने के बाद फिर से उन्हें नमस्कार किया, मुनिराज ने उसको धर्म का आशीर्वाद देते हुए कहा कि हे भव्य! आत्मा के सम्यक्स्वभाव को तो तूने पहिचान लिया है, अब उस स्वभाव की विशेष साधना करने के लिये तू मुनिपने का चारित्र अंगीकार कर। अब तेरा संसार अत्यन्त अल्प रह गया है; मनुष्य के तीसरे भव में तू मोक्ष को प्राप्त करेगा। प्रथम चक्रवर्ती होगा। बाद में तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

अहा! किसको अपने मोक्ष की बात सुनने से आनन्द नहीं होगा? मुनिराज से अपने मोक्ष की बात श्रवण करके अग्निवेग अत्यन्त आनन्दित हुआ। संसार के प्रति उसको अत्यन्त वैराग्य जागृत हो गया कि अरे! मेरे को तो अल्प काल में मोक्ष साधना है; मुझे इस राजपाट में बैठे रहना योग्य नहीं; मैं तो आज ही मुनि होकर आत्म-साधना में एकाग्र हो जाऊँ।

इस प्रकार यौवन अवस्था में राजकुमार ने वैराग्य प्राप्त करके मुनिराज के पास दीक्षा ग्रहण कर साधुदशा धारण की। राज्य-पाट का त्याग, स्त्री-पुत्र का त्याग तथा वस्त्रों का भी त्याग किया—सर्व परिग्रह का त्याग करके कषायों को भी त्याग कर अन्तर के एकत्व स्वरूप का ध्यान करने लगे। मेरा आत्मा सभी परभावों से भिन्न है, मैं अकेला हूँ, ज्ञान तथा सुख से परिपूर्ण हूँ, इस प्रकार निजात्मा का ध्यान करने लगे। अग्निवेग-मुनिराज तो इस प्रकार आत्मा के ज्ञान-ध्यानपूर्वक वन-जंगल में विचरण करके मोक्ष की साधना कर रहे हैं—इतने में एक घटना हुई—

पूर्व भव में कमठ का जीव जो नरक में था, वह वहाँ से निकलकर विशालकाय अजगर बना। वह अजगर भी इसी विदेहक्षेत्र में रहता था, शिकार की खोज में वह इधर-उधर घूम रहा था। अजगर जब मुँह खोलता था तो वहाँ एक गुफा हो, ऐसा दिखलाई देता था। जंगल के कितने ही पशुओं को वह वैसा का वैसा मुँह में निगल जाता था। अजगर फुंकार करता हुआ वहाँ आ पहुँचा। अग्निवेग-मुनिराज को देखते ही वह उनकी तरफ दौड़ा... अरे रे, क्षमाधारी मुनिराज को देखकर भी अजगर का क्रोध शान्त नहीं हुआ; शान्तरस में झूलनेवाले मुनिराज को देखकर भी अजगर

का विष नहीं उतरा... वह तो क्रोधित होकर मुँह फाड़कर मुनिराज को ऐसा का ऐसा पूर्णतया निगल गया। अजगर के पेट में भी मुनिराज ने आत्मध्यानपूर्वक समाधिमरण करके सोलहवें स्वर्ग में गये। देखो तो सही, उनकी क्षमा! अजगर खा गया तो भी उसके ऊपर क्रोध नहीं किया। स्वयं अपनी आत्मसाधना में रहे। क्रोध में तो दुःख है, आत्मा की साधना में परम शान्ति है। ऐसे शान्त भावों से उन्होंने समाधि-मरण किया।

[5]

सोलहवें स्वर्ग का देव तथा छट्ठी नरक का नारकी

मुनिराज तो शान्तभाव से समाधिमरण करके स्वर्ग में गये, अजगर क्रोधित भावों के कारण फिर छट्ठी नरक में जाकर महा दुःखी हुआ। दोनों के आयुष्य बावीस सागरोपम के थे। एक समय में यह दोनों सगे भाई थे, उनमें से एक तो २२ सागरोपम तक स्वर्ग के सुख भोगकर, तथा दूसरा २२ सागरोपम तक नरक के दुःख भोगकर, वहाँ से दोनों जीव मनुष्य लोक में आये, उनमें से एक चक्रवर्ती हुआ, तथा दूसरा शिकारी भील बना। इसका वर्णन अब इस प्रकरण में पढ़िये।

[6]

वज्रनाभि-चक्रवर्ती तथा शिकारी भील

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान के पूर्वभवों का वर्णन हम पढ़ रहे हैं। मरुभूति मन्त्री के भव में अपने भाई कमठ के द्वारा मरण

को प्राप्त हुआ, वहाँ से हाथी होकर आनन्दसहित सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सर्प देश से मरकर स्वर्ग में गया; बाद में पूर्व विदेहक्षेत्र में अग्निवेग-राजकुमार होकर मुनि हुआ, अजगर द्वारा निगल जाने के कारण वहाँ से समाधिमरणपूर्वक स्वर्ग में गया, अब पश्चिम-विदेहक्षेत्र में जन्म लेकर चक्रवर्ती बनता है, उसका वर्णन चलेगा:—

जिसमें हम रहते हैं, इसका नाम जम्बुद्वीप है, इसके मध्य में मेरुपर्वत है, मेरुपर्वत के पश्चिम दिशा में विदेहक्षेत्र में बाहु-सुबाहु तीर्थंकर भगवान सदा विराजमान हैं; हजारों केवली भगवान तथा लाखों मुनिराज वहाँ सदा विचरण करते हैं। धन्य है वह देश जहाँ धर्मी जीवों के झुण्ड के झुण्ड निवास करते हैं, वहाँ जैनधर्म का जय-जयकार वर्तता है।

इस सुन्दर देश में अश्वपुरनगर के राजा का नाम वज्रवीर्य तथा रानी का नाम विजयादेवी था। एक बार रानी ने पाँच आनन्दकारी मंगल स्वप्न देखे—मेरुपर्वत, सूर्य, चन्द्र, देवविमान तथा भरा हुआ सरोवर—इन पाँचों स्वप्नों की बात रानी ने राजा से कही तथा पूछा कि हे महाराज! पाँचों स्वप्नों का फल क्या है?

राजा ने कहा—उनका फल यह है कि तुझे एक उत्तम पुत्र की प्राप्ति होगी और वह चक्रवर्ती बनेगा।

रानी यह सुनकर अति प्रसन्न हुई और पंच परमेष्ठी के गुणगान करने लगी। अल्प काल के बाद उसे एक पुत्र का जन्म हुआ; इसका नाम वज्रनाभि रखा गया। वही अपने पार्श्वनाथ भगवान का जीव है। जो कि स्वर्ग में से च्युत होकर यहाँ जन्म लिया है। राजा ने पुत्र-जन्म का महान उत्सव किया। छोटा सा राजकुमार बालचेष्टा द्वारा सभी को आनन्दित करता था। भले ही छोटा था किन्तु महान

आत्मा को जाननेवाला था; वह कभी-कभी आत्मा की मधुर बातें करता, जिसको श्रवण करने से अनेक जीवों को धर्म की प्रेरणा जागृत होती थी; कभी एकान्त में ध्यान धर करके चैतन्य के चिन्तन में बैठ जाता मानो कोई छोटे से मुनिराज बैठे हों।

वज्रनाभि जैसे-जैसे बड़ा होता गया, वैसे-वैसे वह अनेक प्रकार की विद्याओं में प्रवीण होने लगा। बुद्धि सम्पन्न राजकुमार न्याय-नीति के मार्ग पर चलनेवाला था। अनेक गुण-रत्नों का भण्डार था। यौवनावस्था में उन्हें राज्याभिषेक हुआ। एक बार उत्तम पुण्योदय से धर्म चक्रवर्ती तीर्थंकर उसके देश में पधारे, तथा उसी समय उसके राज्यभण्डार में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। पुण्य से भी धर्म श्रेष्ठ है—ऐसा समझनेवाला वह राजकुमार प्रथम धर्म चक्रवर्ती के दरबार में जाकर तीर्थंकर की पूजा की; तथा बाद में सुदर्शनचक्र का उत्सव किया। इस सुदर्शनचक्र का ऐसा सामर्थ्य है कि दुश्मन पर चलाया जाए तो उसके प्राण नाश कर देता है—किन्तु आश्चर्य की बात है कि इस चक्र के द्वारा एक भी जीव की हिंसा किये बिना उन्होंने छह खण्ड जीत लिये, मानो अहिंसा चक्र के द्वारा ही छह खण्ड जीताकर चक्रवर्ती बने हों। चक्रवर्ती का अपार वैभव उनको प्राप्त हुआ था; छियानवें क्रोड गाँव उनके आधीन थे; उसकी सेना में चौरासी लाख हाथी थे; उसके छियानवे हजार रानियाँ थी; सात सौ उत्तम रत्नमणि की खदानें थी। बत्तीस हजार राजा-महाराजा उसके आधीन थे। उसके पास नौ निधान थे जो कि इच्छानुसार वस्त्र, शस्त्र, अलंकार, पुस्तक, संगीत, पात्र तथा रत्न प्रदान करते थे। उनके पास चौदह महारत्न थे; अद्‌भुत सिंहासन, छत्र, चामर इत्यादि अपार वैभव था; पचास कोस तक

जिसकी ध्वनि सुनाई दे, ऐसी आनन्दभेरी थी; उनके राज्य में जिनमन्दिरों की शोभा ही अद्भुत प्रकार की थी; उच्च कोटि के रत्नों से जिनकी शोभा थी, उससे भी अधिक उनमें विराजमान अरिहन्तदेव की वीतराग प्रतिमा से वह सुशोभित थे।

— ऐसा अद्भुत वैभव होते हुए भी वह चक्रवर्ती जानते थे कि इस सभी बाह्य वैभव से भी भिन्न जाति का मेरा अनन्त चैतन्यवैभव है, वही सुख को प्रदान करनेवाला है। बाहर का कोई भी वैभव सुख को देनेवाला नहीं है, उसमें तो आकुलता है। पुण्य के फल से प्राप्त होनेवाला बाह्य वैभव तो अल्प काल रहनेवाला है। मेरा आत्मवैभव अनन्त काल तक मेरे साथ रहनेवाला है; सम्यग्दर्शनरूपी सुदर्शनचक्र के द्वारा मोह को जीतकर मैं मोक्ष साम्राज्य को प्राप्त करूँगा, वही मेरा सच्चा साम्राज्य है।—ऐसे भानपूर्वक वे जगत से उदासीन रहते थे—

'दास भगवन्त का उदास रहे जगत सौं,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं'

चक्रवर्ती पद में रहते हुए भी अन्तर में अद्भुत ज्ञानपरिणति सहित प्रतिदिन अरिहन्त देव की पूजा करते, मुनिवरों की सेवा करते, शास्त्र-स्वाध्याय करते, सामायिक इत्यादि क्रियाएँ करते थे। इस प्रकार धर्म-संस्कारों से भरा हुआ उनका जीवन अन्य जीवों को भी आदर्शरूप था। राज्य करते हुए भी वह कभी आत्मा के धर्म को भूलते नहीं थे। इस प्रकार राज्य करते हुए अनेक वर्ष व्यतीत हो गये।

एक दिन क्षेमंकर मुनिराज उनके नगर में पधारे; अद्भुत वीतरागी उनकी मुद्रा थी। वज्रनाभि चक्रवर्ती भी उनके दर्शन करने

गये, मुनि को देखते ही उनकी आँखें हर्षाश्रु से भर गयीं।—धन्य रत्नत्रयधारी मुनिराज! वीतरागी तीन रत्नों के समक्ष इस चक्रवर्ती के चौदह रत्न सर्वथा तुच्छ हैं। इस प्रकार अत्यन्त भक्तिपूर्वक मुनिराज को तीन प्रदक्षिणा दी, उनको वन्दन किया, स्तुति तथा पूजा की; फिर आत्मा के हित का उपदेश श्रवण करने की जिज्ञासा प्रगट की।

मुनिराज ने चक्रवर्ती को मोक्षमार्ग का अलौकिक उपदेश दिया; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के वीतरागीभाव समझाये, तथा मोक्ष के लिये ऐसा वीतरागीभाव ही कर्तव्य है—ऐसा बतलाया। हे जीव! तू इस संसार दुःख से मुक्त होना चाहता हो तो ऐसी चारित्रदशा अंगीकार कर। राग आत्मा का स्वभाव नहीं। राग तो दुःख है; इसलिए कहीं भी किंचित् राग न करते हुए, वीतराग होकर भव्य जीव भवसागर से तिर जाते हैं। हे राजन्! ऐसी वीतरागी धर्म की साधना करने के लिये तत्पर हो। तुझे आत्मा का भान तो है, अब थोड़े ही भव शेष हैं, बाद में तू तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

मुनिराज के ऐसे वीतरागी उपदेश का श्रवण करके चक्रवर्ती राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ, उसे भी उत्तम वैराग्य भावना जागृत हुई। शरीर तथा भोगों से उसका मन उदास हुआ। एवं धर्म में उत्साह अधिक बढ़ जाने से राजा ने अत्यन्त विनयपूर्वक मुनिराज से मुनिदीक्षा की प्रार्थना की।

हे प्रभु! आपके उपदेश से मेरा मन इस संसार से अत्यन्त उदासीन हो गया है, परभावों से विरक्त होकर निजस्वरूप में लीन होने के लिये मेरा आत्मा तत्पर हो गया है; हे देव! इस जगत में मेरा शुद्धात्मा ही मेरे लिये ध्रुव है, शरीरादि समस्त संयोग अध्रुव हैं, वह

कोई मुझे शरणरूप नहीं हैं, समस्त परद्रव्य तथा परभावों से अत्यन्त भिन्न, ज्ञान–दर्शन से परिपूर्ण केवल मेरा आत्मा ही एक है—ऐसा मैंने पहिचाना है। आनन्दमय मेरा आत्मा ही पवित्र है, शरीर तथा रागादि आस्रव तो अशुचि के भण्डार हैं। अज्ञानमय आस्रवों के कारण मैंने संसार की चारों गति में भव धारण कर–करके अत्यन्त दुःखों को भोगा है। देवलोक में भी राग–द्वेष के कारण दुःखी हुआ, मनुष्यभव में भी इष्ट का वियोग; अनिष्ट का संयोग—ऐसे प्रसंगों में अति–रौद्र ध्यान करके दुःखी हुआ; कभी पुत्र अथवा भाई बैरी हुए, कभी शरीर में रोग–पीड़ा हुई, कभी मानसिक पीड़ा से दुःखी हुआ; तिर्यंच तथा नरक के अवतार में जीव ने मोह के कारण भयंकर दुःख भोगे—उनकी तो बात ही क्या? प्रभु! इस दुःखमय संसार से आप मेरा उद्धार करो.... रत्नत्रयरूपी जहाज के द्वारा आप मुझे इस भव समुद्र से पार करो। संसार में सुख नहीं, इसलिए तीर्थंकर भी संसार का त्याग करके मोक्ष की साधना करते हैं। प्रभो! मैं भी मुनिदीक्षा लेकर तीर्थंकरों के मार्ग पर चलना चाहता हूँ।

मुनिराज ने कहा—हे भव्य! तेरी भावना उत्तम है। संसार के सुखों से जीव को कभी सन्तोष होनेवाला नहीं, मोक्ष सुख ही सच्चा सुख है। जीव ने भवचक्र में भ्रमण करते हुए अन्य सभी भावों का अनन्त बार चिन्तवन किया किन्तु आत्मभाव का कभी चिन्तवन नहीं किया, सम्यक्त्वादि भावों का कभी सेवन नहीं किया। इसलिए इस मनुष्य अवतार में उसकी भावना करना चाहिए। तू चक्रवर्ती पद को भी असार समझकर उसका त्याग करने को तैयार हुआ और सारभूत रत्नत्रय को धारण करने के लिये तैयार हो गया,

इसलिए तुझे धन्य है। ऐसा कहकर मुनिराज ने वज्रनाभि चक्रवर्ती को मुनिपद की दीक्षा दी। वह चक्रवर्ती अब राजपाट का त्याग करके जिनमुद्रा धारी मुनि हो गये। चक्रवर्ती छह खण्ड की विभूति के उपभोग से सन्तुष्ट नहीं हुए, इसलिए मोक्ष के अखण्ड सुख की साधना करने के लिये तत्पर हो गये हैं। धन्य है उन मुनिराज को! उनके चरणों में नमस्कार हो।

धन्य मुनिश्वर आतम हित में छोड़ दिया परिवार.....
कि तुमने छोड़ा सब संसार...
धन छोड़ा वैभव सब छोड़ा, जाना जगत असार....
कि तुमने छोड़ा सब संसार....
आत्मस्वरूप में झूलते... करते निज आतम उद्धार...
कि तुमने छोड़ा सब संसार....

ऊँचे हाथी के हौदे पर बैठनेवाले चक्रवर्ती अब नंगे पैर वन में चलने लगे... रत्नमणि से जड़े हुए वस्त्र-आभूषण से रहित वह मुनिराज रत्नत्रय से शोभने लगे। सुवर्ण की थाली में भोजन करनेवाले चक्रवर्ती अब हाथ में ही भोजन करने लगे। उन्होंने १४ रत्नों का त्याग करके तीन रत्न ग्रहण किये... नौ निधान का त्याग करके अखण्ड आनन्द के निधान की साधना करने लगे... छियानवें हजार रानियों तथा छियानवें करोड़ सेना—उन सभी के संग का परित्याग करके, असंगपना धारण करके वन-जंगल में निवास करते हुए चैतन्यस्वरूप आत्मा का ध्यान करने लगे।

एक बार वे मुनिराज जंगल में आत्मा के ध्यान में बैठे हुए थे... सिद्ध के समान अपने आत्मसुख का, बारम्बार अनुभव करते थे...

जंगल में आसपास क्या हो रहा है, उसकी ओर उनका लक्ष्य नहीं था... शरीर का भी लक्ष्य नहीं हुआ। शरीर से भिन्न आत्मा—मैं ही परमात्मा हूँ—ऐसे ध्यान में एकाग्र थे। इतने में... दूर से सननन् करता हुआ एक तीर आया और मुनिराज के शरीर को वींध डाला....

—यह तीर कहाँ से आया? उनके पूर्वभव का भाई, कमठ का जीव—जो कि नरक में था, वहाँ से निकलकर कुरंग नाम का शिकारी भील बना था। उसने यह तीर मारा था। भील इस वन में रहता था। वह माँस का लोलुपी होने से हाथ में धनुष-बाण लेकर क्रूर परिणामों से हिरण आदि पशुओं की हिंसा करता था। इस प्रकार महान पाप का बन्ध कर रहा था। वन में फिरते हुए वह भील जहाँ मुनिराज ध्यान में बैठे थे, वहाँ आ पहुँचा। मुनिराज को देखने से उसे परम भक्तिभाव होना चाहिए किन्तु इससे विपरीत पूर्वभव के संस्कार के कारण क्रोधावेश में आकर हाथ में धनुष लेकर मुनि को निधाना बनाकर तीर छोड़ा, जिससे मुनि का शरीर विध गया।

अरे रे! क्रोध कितना खराब है! कहाँ जीव का उपशमभाव! तथा कहाँ यह क्रोध! क्रोध से अन्धा बना हुआ क्रूर जीव, इन छोटे भगवान के समान मुनिराज को भी नहीं पहिचान सका... तथा ध्यान में स्थित इन अहिंसक मुनिराज की बिना कारण हिंसा करके जीव ने तीव्र अनन्तानुबन्धी क्रोध से सातवें नरक का आयुष्य बाँध लिया। क्रोध से भान भूले हुए जीव को इतना भी भान नहीं था कि इस क्रोध के फल में कितने भयंकर दु:ख भोगने पड़ेंगे।

शरीर विंध गया है तो भी मुनिराज तो अपने आत्मस्वभाव में निश्चल हैं; उनके ध्यान में कोई भी मित्र अथवा शत्रु नहीं है, राग-द्वेष नहीं है, कोई पूजा करे अथवा कोई तीर मारे—किन्तु दोनों के

प्रति समभाव है। जीवन तथा मरण के समय उनको समभाव है, शरीर का भी उनको ममत्व नहीं है, आत्मा के आनन्द में ऐसे लीन हैं कि शरीर विंध जाने पर भी उनको दु:ख नहीं हुआ; मोह हो तो दु:ख हो न! निर्मोही को दु:ख कैसा? वह तो निर्मोही होकर धर्मध्यान में ही एकाग्र हैं। तीर मारनेवाले भील के ऊपर भी क्रोध नहीं हुआ। वाह रे वाह! धन्य क्षमा के भण्डार मुनिराज!

प्रिय पाठकों! तुम भी भील के ऊपर क्रोध मत करना... किन्तु क्षमा के भण्डार ऐसे मुनिराज से उत्तम क्षमा का पाठ सीखना।

वज्रनाभी मुनिराज दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना में अडिग थे, उसमें उन्होंने भंग नहीं पड़ने दिया; धर्मध्यान की एकाग्रतापूर्वक शरीर को त्याग करके समाधिमरण से मध्यम ग्रैवेयक में अहमेन्द्र बने।

भील का जीव अपने महान पापों का फल भोगने के लिये सातवीं नरक में गया। रौद्रध्यान से मुनि की हत्या की, इसलिए वह महा दु:खी हुआ। संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव ने अज्ञानदशा में ऐसे भाव अनेक बार धारण किये हैं। वह जीव भी क्षण में अपने भाव परिवर्तित करके अपना हित साध सकता है। पापी जीव भी क्षण में किस प्रकार परिवर्तन करके आत्मा का उद्धार करता है, उसे भी आप अगले अंक में पढ़ेंगे, तब उस जीव के ऊपर प्रेम जागृत होगा।

[7]

पारसनाथ का जीव ग्रैवेयक में अहमिंद्र तथा कमठ का जीव सातवीं नरक में

ग्रैवेयक में उत्पन्न होनेवाले उस अहमिन्द्र का आयुष्य २७ सागरोपम के असंख्य वर्ष का था। इधर सातवें नरक में उत्पन्न होनेवाले कमठ के जीवन का भी आयुष्य २७ सागरोपम का था। दानों अपने-अपने स्थानों से निकलकर मनुष्य लोक में साथ में ही उत्पन्न होंगे।

देवलोक के १६वें स्वर्ग के ऊपर जो नव ग्रैवेयक हैं, उनके मध्य के ग्रैवेयक में रत्न के दिव्य शयनागार में अत्यन्त तेजस्वी शरीर सहित वह देव उत्पन्न हुआ। उत्पन्न हुए एक घण्टा भी नहीं हुआ होगा कि वह तो एकदम यौवनावस्था को प्राप्त हो गये। देवलोक के आश्चर्यकारी वैभव को देखकर विचारमग्न हो गये, उनको इसी समय अवधिज्ञान प्रगट हुआ; अपने पूर्वभव को भी उन्होंने जान लिया, इसलिए धर्म की अत्यन्त महिमा जागृत हुई कि अहो! वह मुनिदशा धन्य थी। वह चारित्रवृक्ष तो मोक्षफल को देनेवाला है—किन्तु मेरी वीतरागी-चारित्रदशा पूर्ण नहीं हुई, एवं किंचित् राग शेष रह जाने से इस देवलोक में अवतार लेना पड़ा है। यहाँ भी जैनधर्म की उपासना ही मेरा कर्तव्य है, ऐसा विचारकर वहाँ देवलोक के जिनालय में विराजमान शाश्वत् रत्नमय जिनप्रतिमा की अत्यन्त भक्तिपूर्वक पूजा की। देवलोक में कल्पवृक्षों से पूजन की सामग्री प्राप्त होती थी। उस देवलोक की ऋद्धि अलौकिक थी। वहाँ असंख्य सम्यग्दृष्टि देव थे, उनमें कितने ही देव तो दूसरे ही भव में तीर्थंकर होनेवाले थे, कितने ही दूसरे भव में मोक्ष

जानेवाले थे! ऐसे धर्मात्मा साधर्मी-देवों के साथ आनन्दपूर्वक असंख्य वर्ष तक धर्मचर्चा होती रही। वह देव ऐसे निराकुल थे कि अपने देवविमान को त्याग करके अन्य कहीं भी नहीं जाते थे। अपने विमान में रहते हुए तीर्थंकर तथा केवली भगवन्तों को वन्दन -नमस्कार करते थे, मुनिजनों का गुणगान करते थे तथा मुनिपने की भावना का चिन्तवन करते थे। अपने देवलोक से किंचित् ऊँचाई के ऊपर विराजमान सिद्धभगवन्तों का स्मरण करते हुए आत्मा के शुद्धस्वरूप का चिन्तन करते थे। उनका शरीर स्फटिकमणि के समान तेजस्वी तथा श्वेत था एवं मल-मूत्र तथा रोग की उपाधि से रहित थे। सत्ताबीस हजार वर्ष के पश्चात् उनको भूख लगती थी, जिसका शमन मन में ही अमृत का चिन्तवन करने से हो जाया करता था। देवलोक का दिव्य शरीर, दिव्य सामग्री इनसे भी अपना आत्मा भिन्न, इनमें कहीं भी सुख नहीं है, सुख वह तो आत्मा का अनुभव है—ऐसा वह धर्मात्मा जानते थे।—ऐसे आत्मज्ञान सहित देवलोक के दिव्य वैभव के मध्य वह २७ सागरोपम तक रहे।

सात भवों से सम्बन्ध रखनेवाले कमठ के जीव ने सातवें नरक में २६ सागरोपम तक अपार दुःख की वेदना सहन की। भील के भव में जब उसने अपने बाण से छेदकर मुनिराज को मार डाला तब थोड़े समय के बाद उस भील को भी किसी ने मार डाला; क्रूरभाव के कारण रौद्रपरिणामों से मरकर के सातवीं नरक में जाकर उत्पन्न हुआ; उत्पन्न होते ही मस्तक के बल से भाले के समान सिर नीचे और पाँव ऊँचे करके जमीन पर गिरा, वहाँ तीव्र वेदना के कारण पाँच सौ योजन ऊँचा उछलकर फिर गिरा एवं उछला; इस प्रकार बारम्बार उछलने और गिरने के कारण उसका

शरीर आटे के समान बिखर गया एवं अत्यन्त दुःख को प्राप्त हुआ। अत्यन्त भयभीत होकर चारों तरफ वह मूढ़ के समान देखने लगा कि अरे, यह क्या है ? मैं कहाँ आकर गिरा ? यहाँ तो चारों ओर दुःख का समुद्र उछल रहा है। अरे, मैं कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? किसकी शरण ग्रहण करूँ ? अरे रे ! पूर्व के महापाप से मैं इस नरक में आ गिरा ? यहाँ की दुर्गन्ध तो सहन नहीं होती, सारा शरीर अति शीत से जमकर शून्य होता जा रहा है। इस नरक के कुएँ में से कब मुक्त होऊँगा। इस प्रकार अत्यन्त दुःखी होकर विलाप-रुदन करता है।—किन्तु वहाँ उसका रुदन कौन सुननेवाला है ? कौन उसकी दया करे ? इससे विपरीत अन्य नारकी जीव क्रूर प्रहारों से उसको मारते हैं ? भूखे-प्यासे उस जीव को असंख्य वर्ष तक खाने के लिये अन्न तथा पीने के लिये पानी नहीं मिलता है। दुःख से घिरे हुए उस जीव को कुछ भी भान नहीं होता है, कहीं भी चैन नहीं पड़ता है। धर्म का सेवन तो किया नहीं, धर्मात्मा की विराधना करके केवल पाप का ही सेवन किया था, उसको सुख कहाँ से होगा ! जो निर्दयतापूर्वक जीवों की हिंसा करता है, माँस खाता है, ऐसे पापी जीव नरक में भयंकर दुःखों को भोगते हैं; एक क्षण भी वहाँ सुख नहीं, हिंसादि में सुख माननेवाले जीव राई जितने इन्द्रिय-सुखों के लिये मेरु के समान अनन्त दुःखों को निमन्त्रण देते हैं। नरक में पड़ा हुआ वह जीव विभंग ज्ञान से पूर्व के पापों को याद करता हुआ पश्चाताप करता है कि अरे रे, पूर्व में क्रोध करते हुए पीछे फिरकर देखा नहीं, इससे यह हाल हुआ है ! पूर्व में सन्तों के उपदेश को लक्ष्य में लिया नहीं, इसलिए मैं महान दुःख में आ पड़ा। धन्य है इस धर्म को जो ऐसे भयंकर पापों से तथा अज्ञान से

मुक्त करता है। जीव अकेला पाप करता है तथा अकेला ही दुःख भोगता है; वर्तमान में तेरा कोई नहीं है। इसी प्रकार धर्म में भी अकेला ही धर्म की साधना करता है तथा अकेला ही अन्दर के सुख को भोगता है।—इस प्रकार कभी अशुभ विचार कभी शुभ विचारों में समय को व्यतीत करते हुए असंख्य वर्ष तक सातवीं नरक के महान दुःखों को भोगा।

शास्त्रकार कहते हैं कि अरे, ऐसे क्रोधादि पापों को दुःखदायक समझकर इनका त्याग करो; तथा हे भव्य जीवो! परम आनन्ददायक ऐसे जैनधर्म की तुम भक्ति से सेवा करो।

[8]

आनन्दकुमार तथा सिंह

देवलोक में से निकलकर मरुभूति का जीव (अर्थात् पार्श्वप्रभु का जीव) तो अयोध्यानगरी में आनन्दकुमार के रूप में अवतरित हुआ; तथा कमठ का जीव नरक में से निकलकर सिंह हुआ।

हमारा भरतक्षेत्र इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में है; भरतक्षेत्र में अयोध्यानगरी शाश्वत है, इसके मूलस्थान में स्वस्तिक है, इस नगरी में तीर्थंकर जन्म लेते हैं, इसलिए यह महान तीर्थ है। ऋषभदेव आदि तीर्थंकर भगवन्त अयोध्या में अवतरित हुए। उत्तम अयोध्यानगरी अनेक जिनालयों में शोभायमान थी, उनके ऊपर सुन्दर धर्मध्वज लहराते थे। ऋषभदेव भगवान के इक्ष्वाकुवंश में अनेक वर्षों के बाद अयोध्या में वज्रबाहु नामक राजा हुए; इनके प्रभावती रानी की कुक्षि से आनन्दकुमार का जन्म हुआ। आनन्दकुमार स्वयं अपने आत्मा के आनन्द को जाननेवाला था

एवं अन्य जीवों को भी आनन्द प्रदान करता था। वह गुणवान, रूपवान तथा बलवान था; उसकी बुद्धि धर्म में स्थिर थी। वह महा माण्डलिक राजा होने से; आठ हजार राजा उसके अधीनस्थ थे। ऐसा महान माण्डलिक राजा होते हुए भी धर्म को एक क्षण भी नहीं भूलता था; धर्मात्माओं का वह बहुमान एवं विद्वानों का सम्मान करता था। अयोध्या की प्रजा उसके राज्य में अति सुखी थी।

फाल्गुन मास में बसन्तऋतु का आगमन हुआ, बाग-बगीचे सुन्दर पुष्पों से खिल उठे; धर्मात्माओं के अन्तर के बगीचे भी श्रद्धा -ज्ञान-आनन्दरूपी पुष्पों से खिल उठे। आनन्द महाराजा राज्यसभा में बैठे हैं; एवं धर्मचर्चा से सभी को आनन्दित कर रहे हैं। इतने में प्रधान ने आकर कहा कि हे महाराज अभी नन्दीश्वर पूजा के दिन हैं, इसलिए आठ दिन (फाल्गुन सुदी ८ से १५) तक जिनमन्दिर में भगवान की पूजा का महान अष्टाह्निका महोत्सव प्रारम्भ किया गया है; इस उत्सव में पूजन करने के लिये आप भी पधारो।

प्रधान की बात सुनकर के राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ—अहो, वीतराग जिनदेव की पूजा का ऐसा अवसर महा भाग्य से प्राप्त होता है। राज्यभर में धामधूम से विशाल उत्सव करो, भगवान की पूजा रचाओ, दान दो, धर्मचर्चा करो, जिनगुणों का चिन्तवन करो, जैनधर्म की अत्यन्त प्रभावना करो।

जिनमन्दिर में आठ दिन तक धामधूम से महान उत्सव चला; ध्वजा-पताका तथा दीपकों से मन्दिर को सजाया गया, मंगल वाद्य बजने लगे। आनन्द राजा स्वयं भक्ति से पूजा में आते थे; हजारों-लाखों नगरजन भी उत्सव देखने तथा पूजन करने आते थे; एवं प्रभु की पूजा करके पापों का नाश करते थे।

मंगल-उत्सव चलता था, उस समय विपुलमति नाम के एक मुनिराज भी इस उत्सव को देखने के लिये जिनमन्दिर में आये। वाह! एक तो भगवान की पूजा का महान उत्सव, और फिर मुनिराज का पधारना—इससे चारों तरफ अत्यन्त हर्ष छा गया। राजा तथा प्रजा ने अत्यन्त भक्ति से जिनराज के दर्शन किये एवं मुनिराज से धर्मोपदेश देने की विनती की।

वीतरागी मुनिराज ने कहा—हे भव्य जीवो! यह आत्मा स्वयं ज्ञान तथा सुखस्वरूप है, इसको तुम पहिचानो! सम्पूर्ण जगत में भ्रमण करके देखा किन्तु आत्मा के अतिरिक्त हमको अन्य कहीं भी सुख दिखलाई नहीं दिया है। आत्मा का सुख आत्मा में ही है; बाहर खोजन से प्राप्त होनेवाला नहीं है। आत्मा की पहिचान द्वारा ही आत्मा का सुख प्राप्त होता है। राग के द्वारा यह सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता। जिनशासन में अरिहन्त भगवान ने ऐसा कहा है कि पूजा-व्रतादि शुभराग के द्वारा जीव को पुण्य का बन्ध होता है; एवं मोह से रहित जो वीतरागभाव है, उसके द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है।

राग से रहित सर्वज्ञदेव, परिग्रह से रहित शुद्धोपयोगी साधु वे निर्ग्रन्थ गुरु तथा शुद्धात्मा का स्वरूप समझाकर वीतरागता का उपदेश देनेवाले शास्त्र, ऐसे देव-गुरु-शास्त्र जगत में पूजनीय हैं —उनकी श्रद्धा तथा पहिचान करने से आत्महित होता है।

मुनिराज ने फिर कहा कि—नन्दीश्वर द्वीप में पावन शाश्वत जिनमन्दिर हैं, जिनमें कुल ५६१६ वीतरागी जिनप्रतिमा विराजमान हैं। यह जिनप्रतिमाएँ आत्मा के शुद्धस्वरूप का प्रतिबिम्ब है। जिस प्रकार काँच में देखने से अपना मुख दिखाई देता है इसी प्रकार वीतरागी जिनबिम्ब के दर्शन द्वारा आत्मा का शुद्धस्वरूप अरिहन्त

के समान है, वह लक्ष्य में आता है; आत्मा का शुद्धस्वरूप लक्ष्य में आने से मोहकर्म का नाश हो जाता है।

—श्री मुनिराज का उपदेश श्रवण करके सभी अति प्रसन्न हुए।

जिनदर्शन की प्रभावना तथा जिनपूजा की महिमा प्रसिद्ध करने के लिये आनन्दराजा ने मुनिराज से पुनः निवेदन किया कि—हे नाथ! यह रत्न की, सुवर्ण की तथा पाषाण की जिनप्रतिमा तो अचेतन है, तो इनके दर्शन-पूजन करनेवाले को पुण्यफल की प्राप्ति किस प्रकार होती है? इसको विस्तारपूर्वक समझाने की कृपा करें।

मुनिराज ने कहा—हे भव्य जनों, सुनो! ईश्वर कहीं इस जीव को कर्म का फल देता नहीं है, किन्तु जीव स्वयं जैसे शुभ अथवा अशुभभाव करता है, वैसा फल स्वयं उसको प्राप्त होता है। एक ही प्रतिमा को देखकर, जो पूजा इत्यादि का शुभभाव करता है, उसको पुण्य का फल प्राप्त होता है, तथा उसी प्रतिमा को देखकर जो अनादर का अशुभभाव करता है, उसको पाप का फल प्राप्त होता है; तथा वीतरागी जिनप्रतिमा को देखकर जो जीव अपने शुद्धस्वरूप का चिन्तवन करता है, उसको उसमें वह निमित्त होती है। प्रतिमा में जिनकी स्थापना है, वह अरिहन्त परमात्मा शुद्ध ज्ञानचेतनामय वीतरागी आत्मा है; ऐसे आत्मा की पहिचान करते समय अपने आत्मा के शुद्धस्वरूप की पहिचान भी हो जाती है, क्योंकि जैसे अरिहन्त भगवान हैं, वैसा ही यह आत्मा भी है। इस प्रकार अरिहन्त की पहिचान करते समय आत्मा की भी पहिचान होकर सम्यग्दर्शन होता है।

नन्दीश्वर के मन्दिरों में रत्नों की शाश्वत प्रतिमाएँ देखकर

अनेक देव आश्चर्य से चैतन्य की महिमा में उतरकर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं। जिस प्रकार आत्मा का शुद्धस्वभाव शाश्वत अनादि का है, इसी प्रकार इसके प्रतिबिम्बरूप वीतराग प्रतिमा भी शाश्वत अनादि की है। पाँच सौ धनुष (अर्थात् एक हजार मीटर के बराबर) ऊँची वह रत्नों की मूर्ति ऐसी आश्चर्यकारी हैं कि मानों साक्षात् तीर्थंकर भगवान ही बैठे हों।—मानों अभी इनके मुख से दिव्यध्वनि निकलेगी। वीतरागता का परम तेज उनकी मुद्रा पर झलक रहा है। इसको देखते ही आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव स्मरण को आता है। अहा! चैतन्य के अनन्त गुण मानो मूर्त होकर झलक रहे हों, ऐसी अद्भुत यह रत्नप्रतिमा झलकती है। वह भले ही अचेतन है, किन्तु चेतन के गुणों के स्मरण में निमित्त है।

वस्त्र-शस्त्र तथा अलंकारों से रहित, राग के चिह्नों से रहित ऐसी वीतरागी प्रतिमा तो शुद्ध आत्मा के दर्पण समान है। जिस प्रकार दर्पण में अपना मुँह दिखलाई देता है, इसी प्रकार जिनप्रतिमारूप वीतराग दर्पण में अपने वीतरागी रूप का स्मरण हो आता है। वीतरागस्वरूप के चिन्तवन से सम्यग्दर्शनादि होते हैं। वीतराग प्रतिमा के दर्शन-पूजन के शुभराग से उत्तम पुण्य का बन्ध होता है। इस प्रकार वीतराग जिनबिम्ब के दर्शन को सम्यक्त्व तथा पुण्य का कारण कहा है; यह प्रतिमा कुछ करवाती नहीं है; पुण्य-पाप तथा सम्यग्दर्शनादि धर्म यह तो जीव के अपने भावों के अनुसार होते हैं। मूक जिनप्रतिमा ऐसा उपदेश देती है कि संकल्प-विकल्पों का त्याग करके तुम तुम्हारे स्वरूप में स्थिर हो जाओ... हे चेतन! तू जिनप्रतिमा हो जा। जिस स्वरूप से प्रभु का ध्यान करोगे, उसी स्वरूप तुम हो जाओगे। जिस प्रकार चिन्तामणि के

चिन्तन द्वारा इष्ट फल की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार जिनप्रतिमा के समान शुद्ध आत्मा का चिन्तवन करने से इष्ट फल की प्राप्ति होती है।

आनन्दराजा सहित हजारों श्रावकजन अति उल्लास से विपुलमति मुनिराज का उपदेश श्रवण कर रहे थे। जिस प्रकार मन्त्रित औषधि अचेतन होने पर भी विष को उतारने में निमित्त होती है, उसी प्रकार वीतरागभावरूप मन्त्रवाली जिनप्रतिमा अचेतन होते हुए भी जीव का मिथ्यात्वादि विष उतारने में निमित्त होती है। जिस प्रकार राजमुद्रा को मस्तक झुकाते हैं, उसी प्रकार प्रतिमा में भगवान की स्थापना होने के बाद जिनमुद्रा को जिनवर के समान समझकर उसका बहुमान करते हैं, जिनगुणों को स्मरण करके उसकी भावना करते हैं। जो अज्ञानी जीव जिनप्रतिमा को देखकर जिनेश्वर का स्मरण नहीं करते एवं इससे विपरीत उनकी निन्दा करते हैं, उनको तो जिनगुणों का प्रेम ही नहीं है। पिता तथा पत्नी का चित्र तो प्रेम से, वात्सल्य से देखता है और वीतराग भगवान की प्रतिमा देखकर वीतराग के प्रति प्रेम तथा बहुमान जागृत नहीं होता तो ऐसे जीव को शास्त्रकार अधर्म कहते हैं; उसको जिनदेव के मार्ग के प्रति भक्ति नहीं है, वह तो संसारसमुद्र के मध्य विषय-कषायरूप मगर के मुख में पड़ा हुआ है। प्रतिदिन जिनेश्वरदेव के दर्शन करके जिनभावना का चिन्तवन करना प्रत्येक श्रावक का कर्तव्य है।

मुनिराज के उपदेश में जिनदर्शन की महिमा को श्रवण करके सभी जीव अति प्रसन्न हुए, एवं अन्तर में अरिहन्तदेव के गुणों का तथा आत्मा के शुद्धस्वरूप का चिन्तवन करने लगे.... अनेक

जीवों ने प्रतिदिन भगवान के दर्शन करने की प्रतिज्ञा लेकर अरिहन्त भगवान के समान आत्मा के शुद्धस्वरूप का चिन्तवन करने लगे। भावपूर्वक मुनिराज की स्तुति-वन्दना करके सभी अपने-अपने स्थान पर चले गये। मुनिराज भी विहार करते-करते भोजन के समय अयोध्यानगरी में पधारे। आनन्दराजा ने नवधाभक्तिपूर्वक मुनिराज को आहारदान दिया। आहारदान के बाद मुनिराज ने कहा कि हे राजन! अब तुम्हारे दो भव ही शेष रहे हैं। इस भव में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करके आगामी भव में तुम भरतेक्षेत्र में २३वें तीर्थंकर बनोगे एवं सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त करोगे। यह सुनकर राजा अत्यन्त आनन्दित हुआ। उसका नाम भी 'आनन्द' था एवं भाव से भी आनन्दित था।

अब श्री मुनिराज ने तीन लोक की जिनप्रतिमाओं का वर्णन किया। सूर्य विमान में भी शाश्वत जिनबिम्ब हैं, ज्योतिषीदेव उनकी पूजा-भक्ति करते हैं, इसका अद्‌भुत वर्णन सुनकर राजा अपने महल में से उनको नमस्कार करने लगा, एवं अयोध्यानगरी में भी वैसी ही रचना करवाने की इच्छा हुई। राज्य के उत्तम शिल्पकारों को आमन्त्रित करके सूर्यविमान के सदृश ही एक सुन्दर विमान निर्मित करवाया; एवं हीरे, माणिक, रत्नजड़ित सुन्दर जिन प्रतिमा उस विमान में स्थापित की। उस विमान की एवं उसमें विराजमान प्रतिमा की आश्चर्यकारी शोभा देखकर आनन्दराजा के आनन्द का पार नहीं रहा। वह प्रतिदिन प्रात:काल-सायंकाल उनकी पूजा करने लगा। इस प्रकार राजा को सूर्यविमान स्थित जिनबिम्ब की पूजा करते देखकर प्रजाजन भी राजा का अनुसरण करके सूर्यविमान को नमस्कार करने लगे। राजा सूर्यविमान को नहीं-किन्तु उसमें

स्थित जिनबिम्बों को नमस्कार करता था—किन्तु जिस प्रकार बाह्य जीव निश्चय को जाने बिना व्यवहार का सेवन करने लग जाते हैं, उसी प्रकार अन्यमती लोग भी जिनबिम्ब के बदले सूर्य की पूजा करने लगे।

आनन्दराजा अनेक प्रकार से धर्म का आराधन कर रहे हैं। उनको विश्वास है कि जिनेश्वर के सदृश मेरी आत्मा का चिन्तवन करता हुआ मैं भी जिन होऊँगा... ऐसी भावना सहित अनेक वर्ष व्यतीत हो गये। एकबार आनन्दराजा ने अपने सिर में श्वेत बाल देखे, एवं तुरन्त ही उसका हृदय वैराग्य से परिप्लावित हो उठा कि अरे! यौवनावस्था के लाखों वर्ष व्यतीत होकर वृद्धावस्था तो आने लगी; यह श्वेत बाल मृत्यु राजा का सन्देश लेकर आये हैं कि हे जीव! अब शीघ्र चारित्रदशा को अंगीकार करके आत्म-कल्याण कर ले। इसलिए अब आत्महित में एक समय का भी प्रमाद किये बिना आज ही इस संसार के सर्व परिग्रहों का त्याग करके मैं शुद्धोपयोगी मुनि हो जाऊँ एवं उपयोगस्वरूप अपने आत्मा में एकाग्र होकर चारित्रदशा को प्रगट करूँ।—ऐसे दृढ़ निश्चयपूर्वक वह वैराग्य को दृढ़ करनेवाली बारह भावना का चिन्तवन करने लगे:—

(१) यह शरीरादि संयोग एवं रागादि परभाव अध्रुव हैं; मेरा उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा ही मेरे लिये ध्रुव है, यही मेरा स्व है, एवं इसी के ध्यान से सुख है।

(२) मृत्यु के मुख में पड़े हुए रागादि में फँसे हुए जीव को अपनी ज्ञानचेतना के अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है, अरिहन्त-सिद्ध-साधु एवं धर्म ऐसी दशारूप जो वीतरागभाव वही शरण है,

अन्य सभी अशरण है। अपने शुद्ध आत्मा का ही शरण लेकर जिसने वीतरागभाव प्रगट किया उसको अन्य किसी का शरण नहीं लेना पड़ता है। जो स्वयं सुखी है, उसको अन्य के शरण की क्या आवश्यकता है ?

(३) अपने स्वभाव की साधना के द्वारा ही सिद्धपद की प्राप्ति होती है; इसके अतिरिक्त जो कोई भी बाह्य भाव है—अशुभ हो अथवा शुभ, वे सभी परभाव संसार हैं, दुःखमय हैं, चारगति के कारण हैं। परभावों का सेवन वह संसार, उससे मुक्त होने के लिये आत्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना करना।

(४) अपने स्वभाव के साथ एकत्व की साधना करने से परम सुख प्राप्त होता है। किन्तु अपने एकत्व स्वभाव को भूलकर, राग-द्वेष के भावों द्वारा जीव दुःखी है; इसी प्रकार शरीरादि पदार्थ भिन्न होते हुए भी इनके साथ एकत्व मान-मानकर मोह से जीव महादुःखी हो रहा है। राग में एकतारूप पणिमन, यह मिथ्यात्व है; निजस्वरूप में ही एकतारूप परिणमन, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है—मुनिजन ऐसी एकत्व भावना में तत्पर रहते हैं।

(५) प्रज्ञा (ज्ञान) के द्वारा अनुभव में आनेवाला उपयोगस्वरूप आत्मा, वही मैं हूँ, उसके अतिरिक्त जो कोई भी रागादि बाह्य भाव हैं, वह सभी मेरे से अन्य हैं।—ऐसी भेदज्ञानरूप भावना, यह अन्यत्व भावना है।

(६) वास्तव में बाह्य पदार्थ अपवित्र (मलिन) नहीं हैं, किन्तु मिथ्यात्वादि भाव ही आत्मा को मलिन करनेवाले होने से अशुचि (अपवित्र) हैं। त्रैकालिक निर्मल ज्ञानघनस्वरूप के आलम्बन द्वारा इनका त्याग करके उपयोगस्वरूप पवित्र आत्मा

की भावना करना चाहिए।

(७) आत्मा को मलिन करनेवाले, दुःख देनेवाले जो अज्ञानभाव हैं, वही आस्रव हैं; आत्मा के उपयोग में कर्म का प्रवेश नहीं है, इसलिए वह निरास्रव हैं। ऐसे उपयोग का अनुभव करने से आस्रव छूट जाते हैं।

(८) उपयोग को कहीं भी बाहर परभावों में नहीं ले जाते हुए अपने आत्मस्वरूप में ही लगाना, इसका नाम संवर है; भेदज्ञान के द्वारा ही ऐसा संवर होता है, वह महान आनन्ददायक है।

(९) शुद्धता की धारा के द्वारा कर्ममल को विशेष धो डालना, यह निर्जरा है, सम्यक्त्वपूर्वक तप से अधिक निर्जरा होती है, यही मोक्ष का कारण है।

(१०) जिसका कोई कर्ता नहीं, जिसका कभी नाश नहीं, ऐसा यह लोक है; यह अनन्त अलोक के मध्य किसी भी प्रकार के अवलम्बन से रहित सदा स्थित है; जीव का स्वभाव भी निरालम्बी है। लोक में अनन्त जीव हैं, वह आत्मज्ञान से रहित तीन लोक में जन्म-मरण करते हुए भ्रमण कर रहे हैं, एवं दुःखी हो रहे हैं। लोक में सर्व से भिन्न एवं लोक को जाननेवाला ज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ—ऐसा ज्ञान करे तो लोक में परिभ्रमण दूर होकर जीव स्वयं सिद्ध भगवान होकर लोकाग्र में निवास करता है।

(११) संसार में परिभ्रमण करनेवाले जीव को सभी सुलभ है, पुण्य तथा स्वर्ग भी सुलभ है, दुर्लभ तो एकमात्र रत्नत्रयरूप बोधिजीव ही है। यह बोधि जीव को महासुख देनेवाली है। ऐसी दुर्लभ-बोधि मुझे किस प्रकार प्राप्त हो ? ऐसी भावना करने का उद्यम (पुरुषार्थ) करनेयोग्य है।

(१२) वस्तु का धर्म अर्थात् वस्तु का स्वभाव क्या है ? इसका चिन्तवन करना चाहिए। जीव का स्वभाव अर्थात् जीव का धर्म तो चेतना है; इस चेतना में राग-द्वेष नहीं है। राग-द्वेषभाव, यह वास्तव में जीव का धर्म नहीं है। ऐसे चेतनास्वभावरूप धर्म को पहिचानकर, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतराग धर्म की अथवा उत्तम क्षमादि दस धर्म की उपासना करना चाहिये। यह धर्म ही जीव को सुख एवं मोक्ष प्रदान करता है।

— इस प्रकार यह बारह भावनाएँ वैराग्य की जननी हैं। इनका चिन्तवन करने से वैराग्य दृढ़ होता है। आनन्द-महाराजा ने ऐसी बारह भावनाओं का चिन्तवन किया एवं परम वैराग्यपूर्वक सागरदत्त गुरु के समीप मुनिदशा ग्रहण की... मुनि होकर शुद्धोपयोग के द्वारा आत्मध्यान में एकाग्र हो गये। अतीन्द्रिय आनन्द के समुद्र में डूब गये-मग्न हो गये... अहा! उनका आत्मा रत्नत्रय के प्रकाश से झलक उठा। उनकी वीतरागता आश्चर्य उत्पन्न करती थी। आत्मिक साधना में वह ऐसे लीन रहते थे कि बारह प्रकार के तप तो उनको सहज ही हो जाते थे; मुख्यतया ध्यान एवं स्वाध्याय में वे मग्न रहते थे। आनन्द के वेदन में आहार की इच्छा सहज में ही छूट जाती थी और कष्ट से रहित उनको उपवास हो जाते थे। कभी आहार लेते तो भी रस की इच्छा से रहित, अमुक ही वस्तु का तथा वह भी भूख से अल्प ही लेते; एकान्त स्थान में वन-जंगल में निवास करते; शरीर का ममत्व उन्होंने त्याग दिया था; अल्प दोष अथवा प्रमोद हो जाता तो सरल चित्त से प्रायश्चित करते थे; रत्नत्रयधारी गुरुओं के प्रति सेवा-विनय एवं वात्सल्य रहित आचरण रखते थे; चाहे जैसी ठण्ड-गर्मी तथा वर्षा में भी आत्मध्यान का त्याग नहीं करते थे।—इस प्रकार के तप सहित चारित्र की आराधना करते थे।

ऐसी उत्तम आराधना सहित स्वाध्याय में एकाग्रता से आनन्द मुनिराज को बारह अंग का ज्ञान प्रगट हो गया—श्रुतज्ञान का पवित्र समुद्र उल्लसित हुआ... अन्य भी अनेक ऋद्धियाँ उनको प्रगट हुई, किन्तु उनका लक्ष्य चैतन्य ऋद्धि में ही था। आर्तध्यान अथवा रौद्रध्यान तो उनको था ही नहीं, वे धर्मध्यान में ही एकाग्र रहते हुए कभी शुक्लध्यान भी चिन्तवन करते थे। ध्यान के समय वह अपने शुद्ध आत्मा में एक में ही उपयोग को एकाग्र करके निर्विकल्प-आनन्द का अनुभव करते थे; उस समय सभी चिन्ताएँ उनकी नष्ट हो जाती थी। अहा, ध्यान के समय तो मानो सिद्ध में एवं इनमें किंचित् भी अन्तर नहीं रहता था। इनकी शान्त मुद्रा का अवलोकन करके पशु भी आश्चर्यचकित हो जाते थे।

यह आनन्द मुनिराज रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में सदाकाल निश्चल रहते हुए बाईस परीषह को सहन करते थे। चाहे जैसी भूख, ठण्ड अथवा गर्मी, नग्न शरीर के ऊपर मच्छर इत्यादि जन्तुओं के डंक लगते थे तो भी मोक्षमार्ग से किंचित् भी विचलित नहीं होते थे; अरति के समय में भी वह अरति का भाव नहीं रखते थे; स्त्रियों के चाहे जैसे हाव-भाव से किंचित भी उनका मन चलायमान नहीं होता था, विहार आसन, भूमिशयन सम्बन्धी कष्ट में भी दुःखी नहीं होते थे; क्रोध से कोई कटु शब्द कहे अथवा मारे, तथापि स्वयं अपने मार्ग से चलित नहीं होते थे; आहारादिक की याचना नहीं करते थे; अनेक उपवास करने के बाद नगर में भोजन के लिये जाते हैं; योग्य आहारादि की प्राप्ति नहीं हो, तथापि शान्ति से अपने धर्मध्यान में स्थिर रहते थे; कभी शरीर में रोग आ जाए, वेदना हो, कांटे-कंकर लगें तो भी आर्तध्यान नहीं होने देते; स्वयं का तथा पर का मलिन

शरीर देखकर वह अपने मन को मलिन नहीं होने देते–ग्लानि नहीं करते थे; लोगों के द्वारा मान–अपमान में उनको समभाव था; मैं रत्नत्रय–मार्ग में प्रवीण, महान तपस्वी हूँ, फिर भी मेरा संघ में मान–आदर नहीं है—ऐसा विकल्प नहीं करते थे; ज्ञान का विशेष विकास होते हुए भी उनको अहंकार नहीं था; अवधिज्ञान आदि प्रगट नहीं हुआ तो भी दुःखी नहीं होते थे; अनेक वर्षों तक तपश्चर्या करते हुए भी कोई ऋद्धि प्रगट नहीं हुई हो, एवं अन्य के ऋद्धि प्रगट होते देख दुःखी नहीं होते थे।—इत्यादिक प्रकार से बाईस परीषह को जीतते हुए यह आनन्द मुनिराज आत्मशुद्धि की वृद्धि करते हुए कर्मों की निर्जरा करते थे।—अहो, ऐसा वीतरागी मुनिजीवन धन्य है, उनके चरण में हमारा मस्तक झुक जाता है।

यह मुनिराज बारम्बार शुद्धोपयोगरूपी जल द्वारा चारित्र वृक्ष का सिंचन करते थे। वे चारित्र के महान कल्पवृक्ष थे। इस कल्पवृक्ष में मानो उत्तम फल लगे हों, इस प्रकार उत्तम क्षमादि दस धर्म उनको प्रगट हुए थे। ऐसे मुनिराज को दर्शनविशुद्धि से लगाकर रत्नत्रय धर्म के प्रति परम वात्सल्य तक की सोलह भावनाओं के द्वारा तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का बन्ध हो गया। सभी तीर्थंकर पूर्व भव में ऐसी उत्तम भावनाओं का चिन्तवन करते हैं। एक ओर पुण्य का रस बढ़ रहा था तो दूसरी ओर चैतन्य–अनुभव के द्वारा वीतरागी शान्तरस की भी वृद्धि हो रही थी। शिवपुर पहुँचने के लिये बीच में एक ही भव शेष रहा था; संसार सम्बन्धी कोई भी इच्छा उनको अब नहीं रही थी, शरीर से भी वह सर्वथा विरक्त ही थे।

वे मुनिराज एक समय वन में अचल ध्यान में बैठे थे... बाहर

का लक्ष त्याग करके निजस्वरूप में अवलोकन में ही वह एकाग्र थे। उनके सर्व प्रदेशों से आनन्द के फब्बारे छूट रहे थे। इतने में वहाँ एक सिंह आया.... उसकी भयंकर गर्जना से सम्पूर्ण वन कम्पायमान हो गया... वन के पशु डरके मारे भागने लगे। छलांगें मारते हुआ वह सिंह वन में चारों ओर घूमने लगा। यह सिंह अन्य कोई नहीं, किन्तु अपना परिचित कमठ का जीव ही है। उसकी दृष्टि ध्यान में बैठे हुए आनन्दमुनि के ऊपर जाते ही क्रोध से भयंकर गर्जना करता हुआ, मुनिराज पर झपटा... परन्तु वे तो निर्भयता से ध्यान में बैठे रहे। सिंह ने छलांग लगाकर उनका गला मुँह में पकड़ा एवं तीक्ष्ण पंजों से उनके शरीर को फाड़ा डाला!

—अरे! उसको कहाँ भान था कि मैं अभी जिनके शरीर को फाड़कर खा रहा हूँ, यही एक समय मेरे गुरु होकर इस संसार में से मेरा उद्धार करेंगे! सिंह शरीर को खा रहा था, तब मुनिराज तो अपने उत्कृष्ट क्षमाभाव में ही रहे, उन्होंने सिंह के ऊपर किंचित् भी क्रोध नहीं किया... वीतरागमार्ग से किंचित् भी चलित नहीं हुए। वाह धन्य मुनिराज! चतुर्विध आराधना की अखण्डता सहित प्राणों का त्याग करके वह आनत स्वर्ग में इन्द्र हुए। सिंह क्रूर भावों से मरकर फिर नरक में गया।

(९)

आनन्दमुनि आनत स्वर्ग में और सिंह नरक में

देवलोक के सोलह स्वर्ग में तेरहवाँ आनत स्वर्ग है; स्वर्ग की शोभा अद्‌भुत है; यहाँ रात्रि-दिवस का अन्तर नहीं है, सदाकाल प्रकाश ही रहता है, देवों को थकान, निद्रा, रोगादि नहीं होते। सुवर्ण रत्नों की अद्‌भुत शोभावाले देवों के नगर हैं। पुण्य के प्रभाव से वहाँ अनेक कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणि भी सुलभ हैं। परन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि कल्पवृक्ष से तो फल माँगना पड़ता है, चिन्तवन करना पड़ता है, तब फल देता है किन्तु वीतराग धर्म तो ऐसा है कि इच्छारहित ही उत्तम फल प्रदान करता है, इसलिए धर्म ही श्रेष्ठ है। आनत स्वर्ग में उत्पन्न होनेवाले अपने चरित्रनायक का स्वर्ग में यह अन्तिम अवतार है, आगे के भव में तो वे भगवान होंगे। स्वर्ग के कितने ही देव उनकी सेवा करने लगे। अवधिज्ञान से अपना पूर्वभव देखकर जैनधर्म में उनकी भक्ति-श्रद्धा दृढ़ हुई। देवलोक के अनेक भोगोपभोग के मध्य में भी वह जानते थे कि इन भोगों की इच्छा, यह तो अग्नि के समान है, विषयोंरूपी ईंधन के द्वारा वह कभी शान्त होनेवाली नहीं है, वह तो चारित्ररूपी जल के द्वारा ही शान्त होनेवाली है। इस देवलोक में तो चारित्रदशा नहीं है; वह तो मनुष्य को ही प्राप्त होती है। अब मनुष्य होकर हम अपनी चारित्रदशा पूर्ण करेंगे एवं फिर से इस संसार के चक्कर में नहीं पड़ेंगे। इस प्रकार चारित्रदशा की भावनापूर्वक, सम्यक्त्व की आराधनासहित वह देवलोक में असंख्य वर्ष तक रहे। वह बारम्बार जिनभक्ति के महोत्सव करते हुए देवों की सभा में उत्तम धर्मोपदेश देते थे। उनके उपदेश द्वारा स्वर्ग के कितने ही देवों को सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ।

उनकी आयु जब छह मास शेष रही, तब वाराणसी (बनारस-काशी) नगरी में पारसनाथ-तीर्थंकर अवतार की तैयारी हुई।—वह देखने के लिये पौष कृष्णा ११ के पहले हम उस नगरी में पहुँच जायेंगे.... एवं प्रभु के जन्मोत्सव में आनन्द से भाग लेंगे।

[10]

वाराणसी नगरी में पारस प्रभु का अंतिम अवतार

भगवान पारसनाथ जगत का कल्याण करने के लिये एवं अपनी आत्म-साधना पूर्ण करके परमात्मा होने के लिये अन्तिम अवतार धारण करनेवाले थे, इस भरतक्षेत्र में चौथा आरा पूर्ण होने आया था। बाईस तीर्थंकर तो मोक्ष पधार गये; नेमिनाथ भगवान गिरनार से मोक्ष पधारे; इनको भी 83750 वर्ष व्यतीत हो गये। अयोध्या से थोड़ी दूर काशी देश में गंगा नदी के किनारे वाराणसी (बनारस) नगरी अत्यन्त शोभायमान थी। इस नगरी में पहले सातवें सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर अवतार ले चुके थे, अब तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अवतार की तैयारी चल रही थी।

उस समय वाराणसी नगरी में जैनों की संख्या विपुल थी, भव्य जिनालय रत्नबिम्बों से शोभायमान थे, प्रजाजन दया धर्म का पालन करते थे। रत्नत्रयधारी अनेक मुनिजन नगरी को पावन करते रहते थे। [वर्तमान वाराणसी में जैनियों की संख्या अल्प रह गयी है। जिनमन्दिर भी तीन-चार ही हैं, अनेक कुधर्मों का यहाँ प्रचलन है। एक गृह-चैत्यालय में लाखों रुपये की मूल्यवान हीरे में से बनाई गई पार्श्वप्रभु की प्रतिमा थी, वह भी अभी (वीर संवत् 2596 में) कोई ठग दर्शन के बहाने आकर दिन को ही हाथ में से छीनकर ले

गया। बनारस शहर से दस किलोमीटर की दूरी पर श्रेयांसनाथ तीर्थंकर का जन्मधाम सिंहपुरी (सारनाथ) है; यहाँ श्रेयांसनाथ स्वामी का मनोहर जिनालय है, एवं बीस किलोमीटर की दूरी पर चन्द्रपुरी में चन्द्रप्रभु भगवान का जन्मधाम गंगा नदी के किनारे ही आया है। यहाँ भी प्राचीन जिनमन्दिर हैं। लेखक ने पूज्य श्री कहानगुरु के साथ इन तीर्थों की यात्रा की है, जिसका वर्णन 'मंगल तीर्थयात्रा' पुस्तक में से आप पढ़ लेना।]

चतुर्थ काल में जिसका अपार वैभव था, अरे! तीर्थंकर का जहाँ अवतार होनेवाला हो—ऐसी बनारसी नगरी की शोभा की क्या बात! राजमहल के आँगन में आकाश में से प्रतिदिन करोड़ों रत्नों की वृष्टि होती थी... पन्द्रह महीने तक ऐसी रत्नवृष्टि होती रही, नगर निवासी समझ गये थे कि किसी महान मंगल-अवसर का यह चिह्न है।

विश्व प्रसिद्ध ऐसे इस बनारस तीर्थ में उस समय महा भाग्यवान विश्वसेन राजा राज्य करते थे (कोई इनको अश्वसेन भी कहते हैं) वे अत्यन्त गम्भीर थे, सम्यग्दृष्टि थे; अवधिज्ञान के धारक थे, वीतराग देव-गुरु के परम भक्त थे। इनकी महारानी ब्राह्मीदेवी (ब्रह्मदत्ता अथवा वामादेवी) भी अनेक गुणों से सम्पन्न थी। इन दोनों का आत्मा तो मिथ्यात्व की अशुचि से रहित था एवं इनका शरीर भी मल-मूत्र से रहित था। अहा! तीर्थंकर जैसे पवित्र आत्मा का जहाँ निवास होनेवाला है, वहाँ मलिनता किस प्रकार रह सकती है? सिद्धान्त में कहा है कि तीर्थंकर को, इनके माता-पिता को, चक्रवर्ती को, बलदेव-वासुदेव-प्रतिवासुदेव को तथा जुगलियों को मल-मूत्र नहीं होते हैं।

एक बार महारानी ब्रह्मीदेवी पंचपरमेष्ठी भगवन्तों के ध्यान सहित निद्राधीन थीं; यह दिन वैशाख कृष्णा द्वितीया का था; इस दिन पिछली रात्रि को इन्होंने 16 उत्तम स्वप्न देखे, उसी समय ब्रह्मदत्ता माता के पवित्र उदर में पारसनाथ के जीव का आगमन हुआ; माता का हृदय आनन्द से पुलकित हो गया। अहा! तीर्थंकर जिसके अन्तर में पधारे, उसके महिमा की क्या बात! तीर्थंकर की दिव्य महिमा के चिन्तवन द्वारा उन माता ने मानो सम्यग्दर्शन ही प्राप्त कर लिया हो। तीर्थंकर जैसा आत्मा जिसके अन्तर में विराजमान हो, उसके अन्तर में मिथ्यात्व किस प्रकार रह सकता है?

प्रात:काल होते ही माता जागृत हुईं, अन्तर में पंच परमेष्ठी का चिन्तवन किया—यद्यपि ऐसे ही एक परमेष्ठी उनके हृदय में निवास कर रहे थे। राजसभा में जाकर माता ने सोलह उत्तम स्वप्नों का वर्णन महाराजा विश्वसेन के समक्ष किया; एवं स्वप्नों के मंगल फल में तीर्थंकर जैसे पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी—यह जानकर माता के आनन्द का पार नहीं रहा। मानो हृदय-भूमि में धर्म के अंकुर प्रगट हो गये हों। वाह माता, तू धन्य हो गयी! इन्द्र तथा इन्द्राणियों ने वाराणसी में आकर माता-पिता का सन्मान किया, गर्भ-कल्याणक के निमित्त भगवान की पूजा की, एवं छप्पन कुमारी देवियाँ माता की सेवा करने लगीं। वे बारम्बार तीर्थंकर के गुणगान करती हुई माता के साथ आनन्दकारी चर्चा करती थीं।

एक बार माता ने देवी से पूछा—हे देवी! इस जगत में उत्तम रत्न कहाँ रहता है?

देवी कहती है—माता! तुम्हारे उदर-भण्डार में ही उत्तम रत्न निवास कर रहा है।

दूसरी देवी ने पूछा—माता का शरीर सुवर्ण के समान क्यों दिखलाई दे रहा है ?

तीसरी देवी ने उत्तर दिया—माता को 'पारस' का स्पर्श हुआ है, इसलिए इनका शरीर सुवर्ण के समान दिखलाई देता है।

चौथी देवी ने कहा—माता! आपको कैसी भावना होती है ?

माता कहती है—जगत में जैनधर्म का अधिक प्रचार हो, ऐसी भावना होती है।

पाँचवीं देवी कहती है—हे माता! आकाश में से इन रत्नों की वृष्टि क्यों होती है ?

माता उत्तर देती है—हे देवी! मेरा पुत्र इस जगत में सम्यग्दर्शनादि वीतरागी रत्नों की वृष्टि करेगा, इसका यह चिह्न है कि रत्नों की वर्षा हो रही है।

छट्ठी देवी कहती है—माता, करोड़ों रत्नों की वर्षा होने पर भी इनको कोई क्यों नहीं लेता ?

माता कहती हैं—पारसकुमार जो सम्यक्त्वादि रत्न प्रदान करेंगे, उनके समक्ष इन पंचरंगी जड़रत्नों का क्या मूल्य ? अर्थात् किंचित् भी मूल्य नहीं।

सातवीं देवी कहती हैं—वाह माता! हम भी ऐसे चैतन्यरत्नों को अंगीकार करने के लिये समवसरण में आयेंगे।

आठवीं देवी कहती है—हमारा निवास रुचकगिरि में है; किन्तु हमारे देवलोक से भी हमको यहाँ अच्छा लगता है, क्योंकि यहाँ आपकी तथा बाल-तीर्थंकर की सेवा करने का महान भाग्यशाली अवसर प्राप्त है। इन छोटे से भगवान को हम पालने में झुलायेंगे,

लोरियाँ गायेंगे, इनको उल्लासपूर्वक बुलायेंगे, एवं इनको देख-देखकर आत्मा का धर्म प्राप्त करेंगे।

—इस प्रकार देवियाँ, माता के साथ प्रतिदिन आनन्दकारी चर्चा करती थीं, एवं तीर्थंकर प्रभु की महिमा का वर्णन उल्लासपूर्वक करती थीं। माता के श्रीमुख से ऐसी मधुर आत्मस्पर्शी वाणी का प्रवाह बहता था—मानो इनके मुख से अन्दर में बैठे हुए पारसनाथ भगवान ही बोल रहे हों। जिस प्रकार महल में प्रकाशित दीपक सम्पूर्ण महल को प्रकाशमान करता है, उसी प्रकार माता के गर्भगृह में रहनेवाला ज्ञानदीपक तीन ज्ञान के द्वारा माता के ज्ञान को भी प्रज्वलित करता था। गर्भ में रहे हुए ज्ञानवन्त भगवान उस समय भी जानते थे कि मेरा चैतन्यतत्त्व इस देह के संयोग से सर्वथा भिन्न है, चेतनमय भाव मैं हूँ। इस प्रकार आनन्द से दिन व्यतीत होते-होते पौष कृष्णा 11 ने आकर मंगल बधाई दी।

पौष कृष्ण 11 के उत्तम दिवस को तीर्थंकर का अवतार हुआ; बनारस नगरी में आनन्द का वातावरण छा गया। केवल बनारस में ही नहीं, तीनों लोक में आनन्द छा गया... स्वर्ग में भी उस समय मंगलवाद्य बजने लगे। इन्द्र ने अवधिज्ञान से जाना कि भरतक्षेत्र में तेईसवें तीर्थंकर का अवतार हुआ है, इसलिए इन्द्र ने तुरन्त इन्द्रासन से नीचे उतरकर भक्तिपूर्वक उन बाल-तीर्थंकर को नमस्कार किया, एवं ऐरावत हाथी के ऊपर बैठकर जन्मोत्सव करने के लिये बनारस में आ पहुँचा; साथ में अनेक देवों के विमान थे। कोई देव बाजे बजा रहे थे, कोई पुष्पों की वृष्टि कर रहे थे; छोटे से भगवान को इन्द्र ने हाथी के ऊपर बिठाया... हाथी आकाश-मार्ग से भगवान की सवारी को मेरुपर्वत के ऊपर ले गया। हमें जो यह सूर्य-चन्द्र

दिखलाई देते हैं, इनसे भी अधिक ऊँचाई पर मेरुपर्वत पर प्रभु का जन्माभिषेक हुआ। उस समय प्रभु की दिव्य महिमा को देखकर अनेक देवों को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया। प्रभु तो सदा देह से भिन्न आत्मा को देखनेवाले थे, एवं उनके दर्शन से अनेक जीवों ने भी देह से भिन्न आत्मा को पहिचान लिया था। अहा प्रभु! आप तो जन्म-रहित हो गये हैं, एवं आपकी भक्ति से हमारा जन्म भी सफल हो गया है; इस प्रकार स्तुति करते हुए इन्द्र-इन्द्राणी भी आनन्द से नृत्य करने लग गये; एवं प्रभु का नाम 'पार्श्वकुमार' रखा।

प्रभु के जन्माभिषेक के समय आकाश से पुष्पवृष्टि होने लगी। आश्चर्य है कि आकाश में कहीं भी फूल के वृक्ष नहीं थे, फिर भी पुष्पों की वृष्टि हो रही थी! अनन्त आकाश को भी ऐसा लगा कि—अहा, इन भगवान का ज्ञान तो मेरे से भी विशाल है। इसलिए नम्रतापूर्वक यह आकाश भी पुष्पों द्वारा प्रभु की पूजा करता था; एवं जिस प्रकार मैं निरालम्बी हूँ, इसी प्रकार इन भगवान का ज्ञान भी निरालम्बी है—इस प्रकार निरालम्बीपने के आनन्द से उल्लसित होता हुआ यह आकाश पुष्पवृष्टि के द्वारा प्रभु का जन्मोत्सव मना रहा था।

जन्माभिषेक के समय उछलनेवाला दूध के समान जल का प्रवाह तो ऐसा दिखलाई दे रहा था, मानो क्षीर समुद्र भी उड़कर मेरुपर्वत के ऊपर प्रभु के दर्शन करने आ गया हो! एवं नीचे मध्यभाग में प्रदक्षिणा करनेवाले सूर्य-चन्द्र-तारागण मानो प्रभु के चरणों की सेवा करने आ गये हों एवं शाश्वत् दीपकों के द्वारा प्रभु की आरती कर रहे हों।

मेरुपर्वत के ऊपर पारसकुमार का जन्माभिषेक करने बाद इन्द्र

स्तुति करते हुए कहा है कि प्रभु! आप तो पवित्र हो, आपका अभिषेक करने के बहाने वास्तव में तो हमने अपने पापों को धो डाला है। इन्द्राणी कहती है कि प्रभु! आपको लेकर मानो मैं मोक्ष को ही अपनी गोद में ले रही हूँ, ऐसा मेरा आत्मा उल्लसित हो जाता है; एवं रत्नाभूषणों के द्वारा आपको अलंकृत करते हुए मानों धर्म रत्नों के द्वारा मैं अपने आत्मा को ही अलंकृत कर रही हूँ— ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है।—ऐसा कहते हुए इन्द्राणी ने बाल-तीर्थंकर को स्वर्ग के वस्त्राभूषण पहिनाकर रत्न का तिलक किया। इस प्रकार पारसकुमार का अभिषेक करके, देवलोक के दिव्य वस्त्राभूषण पहिनाकर सभी देव बनारस नगर में आये। ब्रह्मदत्ता (वामादेवी) माता को उनका प्यारा पुत्र सौंपते हुए इन्द्र कहता है कि—हे माता! आप धन्य हो... आप जगत की माता हो... आपने इस जगत को ज्ञान-प्रकाशक दीपक प्रदान किया है... हे माता! तुम्हारा पुत्र तीन जगत का नाथ है।

बनारस में स्थान-स्थान पर आनन्दोत्सव मनाया जा रहा है। तीर्थंकर के आत्मा को देखकर सहस्रों जीवों ने चैतन्य की महिमा को समझकर आत्मज्ञान प्राप्त किया। अहा, भगवान स्वयं केवलज्ञान प्राप्त करके धर्मोपदेश प्रदान करेंगे, धर्मवृद्धि करेंगे, उस समय की क्या बात! किन्तु उनका जन्म होते ही जीवों में स्वयमेव धर्म की वृद्धि होने लगी। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से कमल स्वयं खिलने लगते हैं, उसी प्रकार तीर्थंकर सूर्य का उदय होने से भव्य जीवोंरूपी कमल स्वयं खिलने लगे। जन्मोत्सव की खुशी में माता-पिता के सन्मुख देवों ने सुन्दर नाटक करके भगवान के पूर्व के नौ भव बतलाये; इसमें हाथी के भव में मुनि के उपदेश से

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का दृश्य देखकर अनेक जीवों ने प्रतिबोध प्राप्त किया; बाद में इसी जीव ने मुनिदशा को धारण करके उत्तम क्षमा का किस प्रकार पालन किया, वह भी बतलाया। पारसकुमार का जन्मोत्सव मनाकर माता-पिता को उत्तम वस्तुएँ भेंट देकर वे इन्द्र स्वर्ग में चले गये। उस समय स्वर्ग से भी वाराणसी के वैभव की अधिक वृद्धि हो गयी थी, क्योंकि तीर्थंकर जैसे पुण्यात्मा वहाँ विराजमान थे। तीर्थंकर जैसे महात्मा के संसर्ग में कौन सा कल्याण प्राप्त न हो!!

भगवान पारसकुमार धीरे-धीरे बड़े होने लगे। उनके अंगूठे में इन्द्र ने अमृत रखा था, जिसको चूसकर उनका पोषण होता था; छप्पन कुमारी देवियाँ उनको स्नान करवाकर श्रृंगार कराती थीं, जिसको देखकर माता की दृष्टि स्थिर हो जाती थीं, एवं उनका हृदय तृप्त होकर उल्लास से मंगल गीत गाती थीं। कुंवर को भी माता के प्रति अति स्नेह था। प्रतिदिन सहस्त्रों नगरवासी इनके दर्शन करने को आते थे एवं इनके दिव्यरूप को देखकर आश्चर्यचकित हो जाते थे। स्वर्ग के देव भी छोटे-छोटे बालकों का रूप धारण करके पारसकुमार के साथ खेलने आते थे। अहा! तीर्थंकर का सहवास किसको रुचिकर न होगा। इन देवकुमारों के साथ पारसकुमार नित्य नवीन-नवीन प्रकार की क्रीड़ा करते हुए, कभी धर्म की चर्चा करते हुए आत्मा के अनुभव का रहस्य भी समझाते थे। अहा, छोटे से बालक के श्रीमुख से जब आत्मा के अनुभव का अमृत प्रवाहित होता था, तब इन छोटे से तीर्थंकर की वीतरागरसयुक्त वाणी को श्रवण करके जीवों को कैसा आनन्द होता होगा! उनकी मुद्रा के दिव्य शान्तभाव मुमुक्षुओं को अतीन्द्रिय

आत्मसुख की प्रतीति उत्पन्न कराते थे। केवलज्ञान होने के बाद की तो क्या बात! परन्तु तीर्थंकर प्रकृति का उदय आने से पहले ही उसके निमित्त से धर्मवृद्धि होने लगी।

भगवान जन्म से ही मति-श्रुत-अवधि तीनों ज्ञान के धारक थे, एवं क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे; उनका स्वभाव अति सौम्य था। आठ वर्ष की आयु में वे पाँच अणुव्रत पालन करने लगे थे। किसी के समीप विद्या सीखना तो उनको था नहीं। आत्मविद्या को जाननेवाले भगवान को अन्य सभी विद्याएँ स्वयं ही प्रगट हो गयीं थीं; उनको चैतन्य-विद्या भी वृद्धि को प्राप्त हो रही थी।

बाल्यकाल व्यतीत होने के बाद प्रभु यौवनावस्था को प्राप्त हुए; इनके शरीर का अद्‌भुत रूप था! उनके शरीर में कभी पसीना अथवा मल-मूत्र नहीं होते थे। उनका रक्त भी श्वेत रंग का था। उत्तम लक्षणों से युक्त इनके शरीर में से चारों ओर सुगन्ध फैलती थी; सौ वर्ष की आयु थी। बाईसवें नेमीनाथ तीर्थंकर के बाद 83750 वर्ष व्यतीत हुए, तब तेईसवें पार्श्वनाथ तीर्थंकर का अवतार हुआ। अब वे युवावस्था में थे।

युवराज राजकुमार को देखकर एकबार माता-पिता ने उनसे विवाह करने के लिये अनुरोध करते हुए किसी सुन्दर राजकन्या के साथ विवाह करने को कहा, किन्तु पारसकुमार ने अरुचि बतलायी; तब माता ने गद्‌गद् होकर कहा कि हे कुमार! मैं जानती हूँ कि तुम्हारा अवतार वैराग्य के लिये हुआ है एवं तुम तीर्थंकर होनेवाले हो, इसलिए मैं अपनी कुक्षि को धन्य समझती हूँ। किन्तु भूतकाल में ऋषभादि तीर्थंकरों ने भी विवाह करके जिस प्रकार माता-पिता की इच्छा पूर्ण की थी, उसी प्रकार तुम भी हमारी इच्छा पूर्ण करो...

पारसकुमार गम्भीरतापूर्वक कहते हैं कि हे माता! ऋषभदेव की बात अलग थी; मैं सभी बातों में उनके समान नहीं हूँ; उनकी आयु तो बड़ी लम्बी थी, जबकि मेरा आयु तो मात्र सौ वर्ष की ही है। अल्प काल में ही संयम धारण करके मुझे अपनी आत्म-साधना पूर्ण करना है; इसलिए मुझे संसार के बन्धन में पड़ना उचित नहीं है।

वैराग्यवान राजकुमार की यह बात सुनकर माता-पिता के चक्षु अश्रुओं से भींग गये.... कुछ देर के लिये वह उदास हो गये... किन्तु अन्त में उन्होंने समाधान किया..... वे भी तो चतुर थे..... उन्होंने विचार किया कि पारसकुमार तो तीर्थंकर होने के लिये अवतरित हुए हैं.... संसार के भोग हेतु इनका अवतार नहीं है, वह तो आत्मा के मोक्ष की साधना करने के लिये है। पुत्र-मोह के कारण ही हमको दु:ख होता है; किन्तु भगवान तो निर्मोह होकर जगत के अनेक जीवों को मोक्ष का मार्ग बतलायेंगे एवं हमें भी इसी मार्ग पर जाना है। इस प्रकार वे भी धर्म-भावना सहित उत्तम जीवन व्यतीत करते थे। पारसकुमार राजवैभव के मध्य होते हुए भी अलिप्त रहकर परम वैराग्यमय आदर्श जीवन व्यतीत कर रहे थे।

❀❀❀

एक बार वनविहार के लिये निकले हुए पारसकुमार के साथ उनका मित्र सुभोमकुमार भी था। राजकुमार पारसनाथ को देखकर जनता अत्यन्त आनन्दित होती थी। अरे, वन में हिरण इत्यादि पशु भी प्रभु को देखकर आनन्दित होते हुए आश्चर्यपूर्वक शान्तचित्त से देखते थे कि अरे! यह कोई महापुरुष हैं कि जिन्हें देखकर हम भयभीत नहीं होते, उल्टी शान्ति प्राप्त होती है! वन के पुष्प भी प्रभु को देखकर खिल जाते। वन की शान्त प्राकृतिक शोभा को देखते

हुए राजकुमार विचार कर रहे हैं कि मेरे को भी अब वनविहारी होने का समय निकट ही है। इस प्रकार उत्तम भावनापूर्वक वनविहार कर रहे हैं; इतने में एक घटना हुई... इसी वन में एक त्रिदण्डी साधु को देखा। कौन है यह तपस्वी ? उसके लिये हमको पूर्वभव पर किंचित् दृष्टि डालना होगी।

पारसनाथ भगवान पूर्वभव में जब अग्निवेग मुनि थे, तब उनका भाई कमठ का जीव अजगर होकर उन्हें निगल गया था। अजगर का जीव मरकर नरक में गया; फिर कमठ का जीव शिकारी भील हुआ, जिसने वज्रनाभि-मुनि को बाण से मार डाला; फिर सिंह होकर आनन्द-मुनि को मारकर खा गया। वहाँ से पाँचवीं नरक में जाकर अनेक प्रकार के दुःखों को भोगने के बाद तिर्यंचगति में तीन सागरोपम तक भ्रमण किया। अन्त में वह जीव महिपालनगरी में महिपाल नाम का राजा हुआ। पारसनाथ भगवान की माता ब्रह्मदत्ता महिपाल राजा की पुत्री थी, इसलिए पारसकुमार उनके दोहित्र (पुत्री के पुत्र) हुए। महिपाल राजा की रानी का मरण हो जाने से वे दुःख के कारण तपस्वी बन गये। सात सौ तपस्वी उनके शिष्य थे; अज्ञानपूर्वक कुतप करते हुए सात सौ तपस्वियों के साथ विहार करते-करते वह महिपाल तपस्वी बनारस नगरी में आकर वन में पंचाग्नि तप करता था... अग्नि में लकड़ी जलाता था।

— इतने में पारसकुमार भी मित्रों के साथ वनविहार करते हुए वहाँ पहुँच गये, उन्होंने महिपाल तपस्वी को देखा, तपस्वी को देखने के बाद भी पारसकुमार ने वन्दन नहीं किया। अरे, सामान्य श्रावक भी कभी कुगुरु को नमस्कार नहीं करते, तब पारस-तीर्थंकर, कुगुरु को किस प्रकार वन्दन करे ?

राजकुमार ने महिपाल तपस्वी को वन्दन नहीं किया, इसलिए तपस्वी मन में क्रोधित हो गया... मानो पूर्व भव के क्रोधित संस्कार जागृत हो गये हों। अरे, मैं ऐसा महान तपस्वी-साधु! एवं राजकुमार का पूज्यनीय; फिर भी यह मुझे नमस्कार नहीं करता; इसको राज्य का अभिमान है; किन्तु मैं भी तो उसके समान राज्य का त्याग करके तपस्वी बना हूँ; एवं मैं उसकी माता का पिता हूँ, फिर भी यह अभिमानी कुमार मेरी विनय नहीं करता। इस प्रकार वह अज्ञानी-गुरु मन ही मन क्रोध करने लगा।

शान्त तथा गम्भीर भगवान पार्श्वकुमार तो ऐसे के ऐसे ही शान्ति से खड़े थे; उनका मन अत्यन्त दयालु था; किन्तु झूठे कुगुरु-तपस्वी व्यर्थ ही क्रोधित हो गये, एवं कहने लगे कि मैं महान तपस्वी हूँ एवं पार्श्वकुमार की माता का पिता हूँ फिर भी यह अज्ञानी-अबोध पारसकुमार मुझे नमस्कार किये बिना अविवेकी होकर खड़ा है।

यह सुनकर पार्श्वकुमार का मित्र सुभोमकुमार कहने लगा कि हे महाराज! 'मैं गुरु हूँ, मैं महान तपस्वी हूँ' ऐसा समझकर आप अत्यन्त अभिमान कर रहे हो; किन्तु आपको खबर नहीं है कि मिथ्यात्वसहित के कुतप के कारण हिंसा से जीव यहाँ भी दुःखी होते हैं एवं परलोक में भी दुःखी होते हैं। काया एवं कषायों से भिन्न आत्मा का जहाँ तक अनुभव नहीं हो, वहाँ तक सच्चा तप नहीं होता है। तुम्हारे इस अज्ञानमय पंचाग्नि तप में छहकाय जीवों की हिंसा होती है; इसलिए यह कुतप है, अतः आत्मा का किंचित् भी हित होनेवाला नहीं है।

सुभोमकुमार की बात श्रवण करके महिपाल तपस्वी अधिक

क्रोधित होकर कहने लगे—तू मुझे उपदेश देनेवाला कौन? यह राजकुमार अभी छोटा बालक है; इसको मेरे तप का कहाँ से ज्ञान होगा? 'मैं तीर्थंकर हूँ' ऐसा समझकर यह बालक मेरे इस महान तप का अपमान कर रहा है। मेरे तप की महिमा का तुमको ज्ञान नहीं है, इसलिए तुम बकवाद क्यों कर रहे हो! पंचाग्नि के मध्य में बैठना, वायु के भक्षण द्वारा जीवित रहना, हाथ ऊँचे उठाकर एक पाँव के ऊपर दीर्घकाल तक खड़े रहना; कन्दमूल, वृक्षों के पत्ते खाकर जीवित रहना—इस प्रकार से कष्ट उठाकर तप करना कितना कठिन है? ऐसी तपस्या से उच्च कोई धर्म नहीं है।

— ऐसा कहता हुआ अज्ञानी तपस्वी कुल्हाड़ी से लक्कड़ फाड़-फाड़कर अग्नि में डालने लगा। एक बड़ी लकड़ी काटकर अग्नि में डालनेवाला ही था...

— कि इतने में भगवान पारसनाथ ने हाथ ऊँचा उठाकर गम्भीर स्वर से कहा—ठहरो... ठहरो... (अवधिज्ञान से उन्होंने जान लिया था कि इस लकड़े में दो सर्प बैठे हैं, एवं वह कुल्हाड़ी से कट गये हैं, अभी अग्नि में उनका होम हो जाएगा।) इसलिए दयालु, भगवान बोल उठे कि ठहरो... ठहरो... इस लकड़े को अग्नि में मत डालो।

अज्ञानी तपस्वी झल्लकार बोला—कि तू मुझे रोकनेवाला कौन? (तपस्वी को यह पता नहीं था कि इस लकड़ी में दो नाग बैठे हैं।)

भगवान ने कहा—तुम जिस लकड़े को काट रहे हो, उसमें दो सर्प बैठे हैं, एवं दोनों ही कट गये हैं तथा वह अग्नि में जल जावेंगे... इसलिए जीवहिंसा मत करो... मत करो।

अवधिज्ञानी पारसकुमार की इस बात को श्रवण करके तपस्वी को विश्वास नहीं हुआ; एवं वह कहने लगा कि—तू ऐसा कौन सा त्रिकालज्ञानी हो गया है कि तूने इस लकड़े में सर्प देख लिये! तू तो व्यर्थ ही हमारे होम-हवन में विघ्न डाल रहा है।

तब सुभोमकुमार ने कहा—महात्माजी! यह भगवान पारसकुमार अवधिज्ञानी हैं, उनका वचन कभी असत्य नहीं होता। आपको सत्यता देखना हो तो लकड़ फाड़कर देख लें।

महिपाल तपस्वी (जो कि कमठ का ही जीव है) उसने क्रोध में आकर कुल्हाड़ी से लक्कड़ को फाड़ा, तो उसके अन्दर से तड़फड़ाते हुए दो सर्प निकले; उनके शरीर के दो टुकड़े हो गये थे एवं दुःख से बेचारे कम्पायमान हो रहे थे, वह पारस प्रभु के सामने एकटक देख रहे थे;—मानो उनका मौन दुःख से मुक्त करने के लिये निवेदन कर रहा हो!

सर्प को देखकर सब लोग एकदम चकित हो गये; चारों तरफ हाहाकार होने लगा... महिपाल तपस्वी भी किंचित् समय के लिये आश्चर्य में पड़ गया।

प्रभु ने सर्प के ऊपर दृष्टि डाली; प्रभु की दृष्टि पड़ते ही दोनों सर्पों को अत्यन्त शान्ति प्राप्त हुई। धीरे-गम्भीर आवाज में प्रभु बोले—अरे! जीवों को कैसा अज्ञान है। जहाँ ऐसी जीवहिंसा होती हो, वहाँ कभी धर्म नहीं हो सकता।

तपस्वी अभिमान से कहने लगा—कि तू मुझे उपदेश देनेवाला कौन है? मैं तो सात सौ तपस्वियों का गुरु हूँ।

अभी भी उसकी ऐसी अविवेकी बात को श्रवण करके, सुभोमकुमार कहने लगा—अरे महाराज! हम आपको न तो गुरु

मानते हैं, एवं न ही आपका तिरस्कार करते हैं। परन्तु आप्त सर्वज्ञ-वीतरागदेव तथा उनका कहा हुआ वीतराग-अहिंसारूप मार्ग, उसका त्याग करके अज्ञान से तुम मिथ्यात्व तथा क्रोधादि कषाय के वश होकर, यज्ञ के नाम पर छहकाय जीवों की हिंसा में प्रवर्तन कर रहे हो, एवं झूठे मार्ग द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा रखते हो, यह तो केवल छिलकों को कूटकर चावल निकालने की इच्छा के समान अज्ञान है; जिस प्रकार पानी का मन्थन करने से घी प्राप्त नहीं होता; इसी प्रकार अज्ञान क्रियाओं के द्वारा धर्म नहीं होता। कोई अन्धा पुरुष अग्नि से बचने के लिये दौड़ा लेकिन वापस उसी अग्नि के कुण्ड में ही जा गिरा! इसी प्रकार अज्ञान से अन्धे जीव हिंसादि कषाय द्वारा संसार के दावानल से बचना चाहते हैं; किन्तु यह अज्ञानमय काय-क्लेश तो दुःख का ही कारण है। इसलिए हिंसामय अज्ञान-मार्ग का त्याग करके ज्ञानमार्ग को अंगीकार करना चाहिए। हमारा तुम्हारे ऊपर अतिस्नेह है। पूर्व में आप पारसकुमार के भाई थे, इसलिए आपको ऐसी हित की बात कही, इसलिए विचारपूर्वक अच्छी बात को ग्रहण करके मन के मलिन भावों का त्याग करो।

अहा, कैसा मधुर उपदेश! भावी तीर्थंकर की उपस्थिति में ऐसा सुन्दर आनन्दकारी वीतराग धर्म का उपदेश श्रवण करके भी वह कमठ का जीव सच्चे धर्म को अंगीकार नहीं कर सका। अरे, ऐसे साक्षात् भावी तीर्थंकर दृष्टि के समक्ष खड़े हैं, उनको देखकर भी इस कुगुरु का क्रोध शान्त नहीं हुआ। जीव स्वयं भावशुद्ध नहीं करे तो तीर्थंकर भी उसका क्या करे? फिर भी अन्दर ही अन्दर उसको अवश्य चुभन हो गयी कि इन उत्तम पुरुष के सामने मेरी

कुछ भूल अवश्य हो रही है... किन्तु क्रोध और अज्ञान के कारण उसने सच्चे वीतराग धर्म को स्वीकार नहीं किया। धर्म लाभ प्राप्त होने के लिये उसे अभी किंचित् विलम्ब था; अन्त में वह भगवान के शरण में ही आकर सच्चा धर्म अंगीकार करता है।

एक ओर कटे हुए दो सर्प तड़प रहे हैं, एक ओर उन सर्पों की हिंसा करनेवाले कुगुरु खड़े हैं, एक ओर इन सर्पों का उद्धार करनेवाले जगत्गुरु तीर्थंकर खड़े हैं, एवं मधुर वाणी द्वारा वीतरागधर्म का स्वरूप बतला रहे हैं। दोनों सर्प तो दया की मूर्ति भगवान को देखकर शान्ति को प्राप्त हुए एवं उनके मुख से वीतराग धर्म का उपदेश श्रवण करके धन्य बन गये।

अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक पारसकुमार कहते हैं कि—हे सर्पराज! इस तपस्वी की अज्ञानता के कारण तुम्हारे शरीर के कुल्हाड़ी से कटकर दो टुकड़े हो गये हैं परन्तु तुम क्रोध मत करना; पूर्वभव में क्रोध करने से तुमने इस सर्प का अवतार प्राप्त किया है; किन्तु अब क्रोध का त्याग करके क्षमाभाव को धारण करना, पंच परमेष्ठी भगवान का शरण लेना।—ऐसा कहकर पारसकुमार ने उन सर्पों को नमस्कार मन्त्र सुनाया—दोनों सर्प शान्ति से श्रवण करते हैं।

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं,
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।

अहा! भावी तीर्थंकर के दर्शन से, एवं उनके श्रीमुख से ऐसे नमस्कार मन्त्र का श्रवण करने से नाग तथा नागिन दोनों अपना दुःख भूल गये... एवं शान्तभाव धारण करते हुए अति उपकारबुद्धि से प्रभु के सामने देखते रहे... उन सर्पों के मुख में से मानों विष के बदले अमृत झर रहा हो कि अहा, हमारे जैसे विषधर जीवों को भी

प्रभु ने करुणापूर्वक सच्चे धर्म को समझाकर हमारा कल्याण किया। धन्य है इन भगवान को! ऐसा विचार करके दोनों सर्पों ने भक्तिपूर्वक मस्तक झुकाया। प्रभु की आँखों से तो अमृत की वर्षा हो रही थी।

नमस्कार मन्त्र को सुनाने के बाद पारसकुमार ने कहा—अरे जीवो! अज्ञान से इस तिर्यंचगति में तुम अति दुःखी हुए हो, अब इससे मुक्त होने का अवसर है, इसलिए शान्तभाव से तुम आत्मा का लक्ष्य में लेना। तुम्हारा आत्मा क्रोध से भिन्न चेतनभावरूप है, उसको लक्ष्य में लेकर परम अहिंसारूप वीतरागी जैनधर्म का शरण लेना।

अहा, प्रभु के शान्तरस से झरनेवाले वचनों की क्या बात! उनका श्रवण करके नाग-नागिन दोनों जीवों को अति शान्ति प्राप्त हुई; एवं प्रभु के चरणों में ही देह त्याग करके भवनवासी देव में धरणेन्द्रदेव तथा पद्मावती देवी हुए। अवधिज्ञान से भगवान का उपकार जानकर वह भक्ति करने लगे कि धन्य जिनधर्म! धन्य पारसनाथ! कि जिन्होंने हमारे को सर्प में से देव बनाया, संसार से मुक्त करनेवाला जैनधर्म प्रदान किया।

देखो तो सही, क्षमाधारी आत्मा की समीपता में नाग जैसे विषैले जीव भी क्रोध नहीं करते हुए, क्षमाभाव से मरण करके देव हुए हैं।—धन्य है वीतराग मार्ग की क्षमा को!

ऐसे वीतराग धर्म को ग्रहण करके भी दुष्ट कमठ के जीव ने उसको स्वीकार नहीं किया, किन्तु इन्होंने मेरा अपमान किया—ऐसा विपरीत समझकर क्रोध किया। सर्प तो धर्म को प्राप्त हुआ, किन्तु महिपाल तपस्वी धर्म को प्राप्त नहीं कर सका; वह क्रोध के शल्यपूर्वक मरकर 'सवंर' नामक ज्योतिषीदेव हुआ। उसने कुतप

किया था, इस कारण मरकर तुच्छ जाति का देव हुआ।

❁ ❁ ❁

अब इस ओर पारसकुमार बनारसनगर में आत्मज्ञानसहित वैराग्यमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं... एवं सभी जीव उनके दर्शन से सुख प्राप्त करते हैं।

एक समय पौष कृष्णा ग्यारस के दिन पारसकुमार राज्यसभा में बैठे हैं, उनका जन्मोत्सव मनाया जा रहा है; देशदेशान्तर के राजा-महाराजाओं की ओर से उत्तम वस्तुओं की भेंट दी जा रही है। अयोध्या का राजदूत भी भेंट लेकर आया है।

पार्श्वप्रभु के दर्शन से अयोध्या का राजदूत आश्चर्यचकित हो गया; विनयपूर्वक स्तुति करते हुए उसने कहा—हे प्रभो! हमारी अयोध्या नगरी के जयसेन महाराजा को आपके प्रति अति स्नेह है, इसलिए यह उत्तम रत्न तथा हाथी इत्यादि वस्तुएँ आपको भेंटस्वरूप भेजी हैं।

पारसकुमार ने प्रसन्न दृष्टि से दूत के सामने देखा एवं अयोध्या के वैभव की बात पूछी। तब दूत ने कहा—महाराज! हमारी अयोध्या नगरी तो तीर्थंकरों की खान है; तीर्थंकर जिस पुण्यभूमि में अवतरित हों, उस अयोध्या के वैभव की क्या बात! असंख्य वर्ष पहले भगवान ऋषभदेव इस भरतक्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर हुए, वह अयोध्या में ही अवतरित हुए थे, उस समय इन्द्र ने इस अयोध्या नगरी की रचना की थी।

अयोध्या के वैभव की बात भगवान प्रेम से श्रवण कर रहे हैं, दूत कहता है कि प्रभो! उसके बाद दूसरे अजितनाथ, अभिनन्दन स्वामी, सुमतिनाथ तथा अनन्तनाथ यह चार तीर्थंकर भी अयोध्या

नगरी में ही अवतरित हुए थे। भरत चक्रवर्ती, भगवान रामचन्द्रजी इत्यादि अनेक मोक्षगामी जीवों ने अयोध्या नगरी को पवित्र किया है।

अयोध्या नगरी का तथा पूर्व के तीर्थंकरों का वर्णन श्रवण करके भगवान पारसनाथ गम्भीर विचार-मग्न हो गये; एवं उसी समय उनको मतिज्ञानावरण सातिशय क्षयोपशम हो गया; वृद्धिगत ज्ञानवैभव में अनेक भवों का साक्षात्कार हो गया, अर्थात् जातिस्मरण ज्ञान हुआ, उन्हें संसार से वैराग्य हो गया। अरे! पूर्व में देवलोक के वैभव को भी इस जीव ने अनेक बार भोगा किन्तु उसे तृप्ति नहीं हुई; बाह्य पदार्थों के द्वारा जीव को कभी तृप्ति होनेवाली नहीं है। अहो! वह ऋषभादि तीर्थंकर धन्य हैं कि जिन्होंने संसार का त्याग करके मोक्षपद को प्राप्त कर लिया है। मुझे तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध हुआ। इससे मुझे क्या लाभ हुआ?—'किं जातः तीर्थकृत नाम बन्धनात्।' जगत के सामान्य मानव के समान संयम से रहित मेरे को समय व्यतीत करना उचित नहीं है। ऋषभादि जिनेश्वर जिस मार्ग से गये, उसी मार्ग पर मुझे जाना है, इसलिए अब आज ही मैं दीक्षा लेकर मुनि होऊँगा, और अपनी आत्म-साधना को पूर्ण करूँगा।

इस प्रकार भव से विमुख तथा मोक्ष के सन्मुख होनेवाले भगवान वैराग्य भावना का चिन्तवन करने लगे।—संयोगरूप जीव के साथ सदा रहनेवाला वह शरीर भी अत्यन्त भिन्न है, वहाँ अन्य की तो बात ही क्या? शरीर तो जीवन से रहित है—उसमें चेतना नहीं है; ज्ञान-दर्शनमय चेतना, वही मेरा जीवन है। सदा ज्ञान-दर्शनस्वरूप एक शाश्वत जीव हूँ; इसके अतिरिक्त अन्य कोई मेरा नहीं है; इसलिए सभी प्रकार के ममत्व का त्याग करके मैं मेरे

चिदानन्दस्वरूप में ही लीन होता हूँ। (वैराग्यजनक बारह भावना के लिये देखिये आत्मधर्म का अंक 326)। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप बोध बीज से रहित जीव संसार में भ्रमण करता है, इसलिए जीव को बोधि ही शरणरूप है—इस प्रकार वैरागी भगवान चारित्र लेने को उद्यत हो गये, उस समय चारित्रमोह की सेना भयभीत होती हुई भागने लगी। दीक्षा का महोत्सव करने के लिये इन्द्र भी आ पहुँचे। लौकान्तिकदेव जो कि एकावतारी हैं, वह भी आ गये एवं भगवान की वैराग्यभावना की प्रशंसा करने लगे।

दीक्षा के लिये उद्यत हुए भगवान, माता के समीप जाकर कहने लगे कि—हे माता! अब मैं चारित्र साधना के द्वारा केवलज्ञान प्रगट करने जाता हूँ।

यह सुनकर, प्रथम तो पुत्र-स्नेह के कारण माता की आँखों से अश्रु प्रवाहित होने लगे, किन्तु माता जानती थी कि मेरा पुत्र तीर्थंकर है, इसलिए कहा कि—हे देव! मैं तुमको रोक नहीं सकती, तुम्हारा अवतार ही आत्मा की साधना को पूर्ण करने के लिये हुआ है; अतः तुम सुखपूर्वक आत्मा की साधना करके जगत का कल्याण करो। तुम्हारा मार्ग उत्तम है, मुझे भी इसी मार्ग पर आना है।

— इसी प्रकार पिता से भी आज्ञा प्राप्त करके भगवान पालकी में आरूढ़ हो गये.... वन में जाकर स्वयं दीक्षित होकर आत्मध्यान करने लगे। भगवान ने तीस वर्ष की आयु में अपने जन्म-दिवस के दिन ही दीक्षा ली; उनके साथ अन्य तीन सौ राजाओं ने दीक्षा ग्रहण की। अहा तीन सौ मुनिवरों से भरा हुआ वह दीक्षावन अद्भुत वीतरागता से शोभायमान हो रहा था; वन का वह शान्त

वीतरागी वातावरण मानों प्रभु की वीतरागता को ही प्रसिद्ध कर रहा हो। दिगम्बर दशा के धारक इन मुनिराज को वस्त्र तो थे ही नहीं एवं अन्दर मोह भी नहीं था, निर्विकल्प शुद्धोपयोगरूप सहजदशा से वे आत्मा में शोभायमान हो रहे थे। प्रभु को ध्यान में तुरन्त ही सातवाँ गुणस्थान प्रगट हुआ तथा मन:पर्ययज्ञान भी प्रगट हो गया... अनन्त गुण मानो एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हुए प्रगट होने लगे। मौन रहकर वह पारस मुनिराज आत्मा के निज कार्य की साधना करने लगे। सर्व प्रथम गुल्मखेट नगर के ब्रह्मदत्त (अथवा धनय) राजा ने मुनिराज को आहारदान दिया, वे भी वास्तव में धन्य हो गये।

देह तथा आत्मा की भिन्नता को पहिचाननेवाले, शत्रु-मित्र में समभाव धारण करनेवाले पारस मुनिराज अन्तर में बारम्बार शुद्धोपयोग के द्वारा निजस्वरूप का ध्यान करते हुए अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करने लगे। उनके निकट सिंह तथा हिरण, सर्प तथा मयूर, इत्यादि जीव शान्तिपूर्वक एकसाथ बैठकर एक-दूसरे के मित्र बन जाते थे; प्रभु को देखकर पशु भी प्रसन्न हो जाते थे।

ऐसी मुनिदशा में आत्मध्यानसहित विचरण करते हुए चार मास व्यतीत हो गये... भगवान की शुद्धि में वृद्धि होने लगी एवं केवलज्ञान की तैयारी होने लगी। एक बार वे मुनिराज सात दिन का ध्यानयोग धारण करके कायोत्सर्गसहित खड़े थे; वह दृश्य कोई अद्‌भुत ही था—वे स्वयं ही साक्षात् मोक्षमार्ग थे। काया की ममता का निवारण करके स्वरूप में समाविष्ट हो गये थे, एवं निर्ग्रंथ मार्ग के द्वारा भव का अन्त कर रहे थे। जगत की बाह्य दृष्टि का

त्याग करके निजस्वरूप के अवलोकन में वह मग्न हो गये थे। इतने में एक घटना हुई:—

❁ ❁ ❁

आकाश में संवरदेव का विमान जा रहा था, किन्तु जहाँ पारस मुनिराज ध्यान में खड़े थे उनके ऊपर जब आया तो वह विमान एकाएक रुक गया। अहा, नीचे पारसनाथ जैसे मुनिराज विराजमान हों, तब उन्हें वन्दन किये बिना उनके ऊपर से विमान किस प्रकार जा सकता है? विमान के अन्दर बैठे हुए देव का प्रयास विमान चलने में असफल रहा। तब विमान क्यों रुक गया, इसका पता लगाने के लिये संवरदेव विमान से बाहर आया।

संवरदेव ने विमान से बाहर निकलकर देखा तो पारस मुनिराज ध्यान में खड़े हैं? बस, उनको देखते ही देव क्रोधायमान हो गया और निर्णय किया कि इन्हीं ने मेरे विमान को रोका है। उसने तो भयंकर विकराल रूप धारण किया और भगवान के सामने खड़ा होकर कहने लगा—मानो भगवान को अभी निगल जाएगा, इस प्रकार अत्यन्त क्रोधाविष्ट होकर विकराल मुँह फाड़कर कहने लगा कि—अरे मायचारी! तूने मन्त्र से मेरे विमान को क्यों रोका? शीघ्र मेरे विमान को छोड़, अन्यथा जलाकर भस्म कर दूँगा।— ऐसा कहकर मुँह से अग्नि की ज्वालाएँ निकालने लगा।

किन्तु उत्तर कौन दे? भगवान तो अपने ध्यान में लीन हैं; वे न तो बोलते हैं, न हिलते-डुलते हैं, उनका तो रोम भी नहीं हिला। (अरे कमठ! अरे संवर! अपने क्रोध से ही तू जल रहा है; तेरा क्रोध भगवान को नहीं जला सकता!) कमठ द्वारा फेंकी जानेवाली अग्नि -ज्वालाएँ प्रभु से दूर ही रहती थीं; भगवान तो अपने

उपशमरस में तल्लीन थे।

अग्नि की ज्वाला से भी जब भगवान को कुछ नहीं हुआ, तब संवरदेव यह देखकर अधिक चिढ़ गया, एवं पहाड़ के समान विशालकाय पत्थरों को उठा–उठाकर भगवान के ऊपर फेंकने लगा। धड़ाधड़ पत्थरों की वर्षा होने लगी... पृथ्वी कम्पायमान हो गई... अच्छे–अच्छे वीर काँप उठे एवं धरणेन्द्र का आसन भी डोल उठा, किन्तु भगवान तो अकम्प आत्मध्यान में लीन थे... पत्थरों की वर्षा हो, ऐसी विक्रिया संवरदेव ने की, तथापि भगवान ने तो आँख उठाकर भी नहीं देखा और उन्हें पत्थर का एक टुकड़ा भी नहीं लगा,—ऐसा ही उनका अतिशय था। तीर्थंकर के शरीर पर कोई सीधा उपसर्ग नहीं कर सकता।

बाहर संवरदेव बड़ी–बड़ी शिलाएँ उठाकर फेंक रहा था, किन्तु वे पत्थर तो प्रभु से दूर ही रहते थे; और उस समय भी प्रभु तो अन्तर में ध्यान के द्वारा कर्म–पर्वत के टुकड़े–टुकड़े कर रहे थे।

पत्थर की वर्षा से प्रभु चलायमान नहीं हुए, तब संवरदेव ने मूसलधार पानी की वर्षा प्रारम्भ कर दी, मानो सम्पूर्ण पृथ्वी डूब जाएगी—इस प्रकार समुद्र के समान पानी उछालने लगा। वन में चारों ओर हाहाकार होने लगा; पशु भयभीत होकर प्रभु की शरण में आकर बैठ गये। संवरदेव पारस मुनिराज ऊपर घोर उपसर्ग कर रहा है।—किन्तु प्रभु के ऊपर होनेवाले उपसर्ग को प्रकृति सहन नहीं कर सकी और धरणेन्द्र का आसन डोल उठा। 'अरे! यह इन्द्रासन क्यों काँप रहा है!'—अवधिज्ञान से ज्ञात हुआ कि हमारे परम उपकारी पारस मुनिराज के ऊपर संवरदेव घोर उपसर्ग कर

रहा है... तुरन्त ही धरणेन्द्र तथा पद्मावती वहाँ आकर उपसर्ग को दूर करने के लिये तैयार हुए।

एक ओर संवरदेव द्वेषवश उपसर्ग कर रहा है, तो दूसरी ओर धरणेन्द्रदेव तथा पद्मावतीदेवी भक्तिराग से प्रभु की सेवा कर रहे हैं—प्रभु तो राग-द्वेष दोनों से परे चैतन्य साधना में ही तत्पर हैं। उनको नहीं है संवर के प्रति द्वेष तथा नहीं है धरणेन्द्र के प्रति राग; बाहर क्या हो रहा है, उस ओर प्रभु का लक्ष्य भी नहीं है। बाह्य में पानी की मूसलधार वर्षा हो रही है तो प्रभु के अन्तर में चैतन्य के आनन्द का सागर उछल रहा है।

प्रिय पाठको! भगवान के ऊपर ऐसा घोर उपसर्ग देखकर तुम कदाचित् उस कमठ के जीव पर क्रोध करने लग जाओगे—किन्तु शांत! तुम उस पर क्रोध मत करना। वह जीव भी (संवरदेव) अभी सम्यग्दर्शन प्राप्त करके धर्मात्मा बननेवाला है। जिन पारसनाथ के ऊपर वह उपसर्ग कर रहा है, उन्हीं पारसनाथ की शरण में आत्मा का अनुभव करके वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा; तब तुमको उसके प्रति वात्सल्यभाव जागृत होगा कि वाह, धन्य है इस आत्मा को, जिसने क्षण में परिणामों को बदलकर आत्मा का अनुभव प्राप्त किया! परिणाम क्षण में परिवर्तित किये जा सकते हैं। क्रोध, वह कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं है जो कि नित्य रह सके! क्रोध से भिन्न पारसनाथ ने इस कमठ के जीव संवरदेव पर क्रोध नहीं किया था;—यदि क्रोध किया होता तो वे केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते। इस प्रसंग पर पारसप्रभु मौन रहकर ऐसा उपदेश देते हैं कि हे जीवों! उपसर्ग करनेवाले के प्रति भी तुम क्रोध मत करना... तुम शान्तभाव से अपनी आत्मसाधना में अचल रहना।

बहु उपसर्ग कर्ता के प्रति भी क्रोध नहिं,
वन्दे चक्री तो भी मान न होय जब।
देह जाय पर माया नहिं हो रोम में,
लोभ नहिं हो प्रबल सिद्धि निदान जब ॥
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा॥

—ऐसी अपूर्व मुनिदशा में प्रभु वर्त रहे हैं। धन्य है उनकी वीतरागता! धन्य है उनकी साधना!

एक ओर संवरदेव, मानो प्रभु को पानी में डुबा दूँ—ऐसी मूसलाधार वर्षा कर रहा है; तो दूसरी ओर धरणेन्द्र तथा पद्मावती अत्यन्त भक्तिपूर्वक पानी में कमल की रचना करके प्रभु को पानी से अस्पर्श रखे हुए हैं; एवं सिर के ऊपर विशाल फण के द्वारा छत्र की रचना कर दी है; अन्तर में परभावों से लिप्त रहनेवाले भगवान पानी से भी अलिप्त ही हैं।

अहा! भगवान तो आत्मसाधना से चलित नहीं हुए।—सात-सात दिन तक उपसर्ग करके अन्त में संवरदेव थक गया और निरुपाय होकर भयंकर गर्जना के साथ बिजली का कड़ाका किया। बाह्य में बिजली की चमक के साथ ही प्रभु के अन्तर में केवलज्ञान की दिव्य बिजली तीन लोक को प्रकाशित करती हुई चमक उठी। एकाएक सभी उपसर्ग अदृश्य हो गये एवं सर्वत्र आनन्द-आनन्द छा गया।—वह मंगल दिन था चैत्र कृष्णा चतुर्दशी।

धरणेन्द्र और पद्मावती जिस उपसर्ग को दूर करने का प्रयत्न कर रहे थे, वह कार्य केवलज्ञान के प्रताप से अपने आप पूर्ण हो गया। प्रभु उपसर्ग-विजेता होकर केवली बने; केवली को उपसर्ग नहीं होता। उपसर्ग पूर्ण हुआ, इसलिए धरणेन्द्र-पद्मावती का कार्य

भी पूर्ण हो गया; भगवान के केवलज्ञान का ऐसा दिव्य अतिशय देखकर पारसनाथ प्रभु की स्तुति करने लगे। अहो प्रभो! आपके केवलज्ञान की कोई अद्‌भुत महिमा है। हे देव! आप स्वयं समर्थ हैं, हम आपकी रक्षा करनेवाले होते कौन हैं? प्रभो! आपके प्रताप से हमने धर्म प्राप्त किया है, आपने संसार के घोर दुःखों से हमारी रक्षा की है। इस प्रकार स्तुति की। केवलज्ञान हो जाने से इन्द्रों ने भी आकर भगवान की पूजा की, एवं आश्चर्यकारी दिव्य समवसरण की रचना की। प्रभु का उपदेश श्रवण करने के लिये अनेक जीव समवसरण में आने लगे।

इस प्रकार सभी आश्चर्यकारक घटनाओं को देखकर संवरदेव के भावों में परिवर्तन हो गया, केवली प्रभु की दिव्य महिमा को देखकर उसे भी श्रद्धा उत्पन्न हुई; उसका क्रोध न जाने कहाँ गायब हो गया; पश्चात्तापपूर्वक वह बारम्बार प्रभु से अपने किये हुए अपराधों की क्षमा माँगता हुआ स्तुति करने लगा।

हे प्रभु! मैंने अकारण इतना उपसर्ग किया, फिर भी आपने किंचित क्रोध नहीं किया। कहाँ आपकी महानता और कहाँ मेरी पामरता। स्वर्ग के राजा इन्द्र भी आपकी भक्ति सहित सेवा करते हैं। इतने समर्थ होने पर भी आपने मुझ पर किंचित् क्रोध नहीं करते हुए क्षमा धारण की। धन्य आपकी वीतरागता! इस वीतरागता के द्वारा केवलज्ञान की साधना करके आप परमात्मा हो गये। प्रभो! मेरे अपराध क्षमा करो। अज्ञान से उपसर्ग किये, इसलिए मैं ही दुःखी हुआ, एवं नरकादि के घोर दुःख भोगे। प्रभो! अन्त में क्रोध पर क्षमा की विजय हुई। अब क्षमा धर्म की महिमा को मैंने पहिचाना है। मेरा आत्मा उपयोगस्वरूप है, वह क्रोध से भिन्न है— ऐसा आपके प्रताप से मेरी समझ में आया है।

भगवान ने समवसरण में जो उपदेश दिया, उसे सुनकर संवरदेव ने (कमठ के जीव ने) भेदज्ञान करके विशुद्ध सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया; पार्श्वप्रभु के प्रताप से वह जीव पापी मिटकर मोक्ष का साधक हो गया। धरणेन्द्र तथा पद्मावती ने भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया; इतना ही नहीं, महिपाल-तापस के साथ जो सात सौ कुलिंगी तापस थे, वे भी असत्य मार्ग का त्याग करके धर्म के सच्चे स्वरूप को समझे, तथा भगवान के चरणों में सम्यग्दर्शन सहित उन सभी ने संयम धारण किया। कुगुरुपना छोड़कर वे सच्चे जैन-गुरु हुए। अन्य कितने ही जीवों ने भगवान के उपदेश से सम्यग्दर्शन प्राप्त किया।

देखो, महापुरुषा की महिमा! अनेक भव तक पार्श्वप्रभु का संग किया तो कमठ का उद्धार हो गया। शास्त्रकार कहते हैं कि— महापुरुषों के साथ मित्रता की तो क्या बात, किन्तु शत्रुतापूर्वक उनका संग अन्त में तो हित का ही कारण होता है।

कमठ का जीव धर्म प्राप्त करके भगवान की भक्ति करने लगा, यह देखकर लौकिकजन आश्चर्य से कहने लगे—वाह! देखो जिनप्रभु की महिमा! कमठ को भी अन्त में प्रभु की ही शरण में आना पड़ा। 'पारस' के संग से पापी भी परमात्मा हो जाया करते हैं।

जिस प्रकार मच्छ उछल-उछलकर समुद्र के पानी को पीड़ा पहुँचाता है, तथापि वह मच्छ समुद्र के आश्रय से ही जीवित है, इसी प्रकार कमठ के क्षुद्र जीव ने द्वेषबुद्धि से अनेक भव तक पीड़ा पहुँचाई, किन्तु अन्त में तो प्रभु की शरण में ही आकर धर्म को प्राप्त किया। प्रभु के आश्रय बिना वह कहाँ से सुखी हो सकता था? अहो, प्रभु का ज्ञान, प्रभु की शान्ति, प्रभु की वीतरागी क्षमा,

उनकी क्या बात! प्रभु की गम्भीरता समुद्र से भी महान है। हे पारस जिनेन्द्र! सभी तीर्थंकर समान होते हुए भी आपकी जो विशेष प्रसिद्धि देखने में आती है, वह तो केवल कमठ के कारण ही देखने में आती है।—ठीक है, क्योंकि अपकार करनेवाले शत्रुओं के द्वारा ही महापुरुषों की कीर्ति फैलती है! प्रभो! संवरदेव की भयंकर विक्रिया के समय भी आप न तो अपनी शान्ति से चलायमान हुए और न कमठ के ऊपर ही क्रोध किया। आपने तो शान्तचित्त के द्वारा ही कमठ की विक्रिया को दूर करके जगत को यह बतला दिया कि सच्ची विजय क्रोध के द्वारा नहीं किन्तु क्षमा के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। कमठ के दुष्टभावों के कारण उसको स्वयं ही हानि हुई, आपकी आत्मसाधना में कमठ के दुष्टभाव किंचित् बाधाकारक नहीं हुए। वास्तव में आपकी शान्ति आश्चर्यजनक है। हे प्रभो!यह धरणेन्द्र तथा पद्मावती दोनों जीव महान कृतज्ञ हैं, उपकार को पहिचाननेवाले हैं, धर्मात्मा हैं—इस प्रकार जगत में उनकी प्रशंसा हो रही है, किन्तु हमको इस बात की खोज करनी पड़ेगी कि आपका उपसर्ग किस प्रकार दूर हुआ?—क्या धरणेन्द्र ने आपके उपसर्ग को दूर किया अथवा आपके केवलज्ञान के प्रताप से स्वयमेव वह दूर हो गया? प्रभो! सच्चा प्रताप तो आपका ही है। वास्तविक पूज्य तो आप ही हैं; धरणेन्द्र तथा पद्मावती तो हमारे समान ही आपके सेवक हैं। आपके प्रताप से ही उन्होंने धर्म को प्राप्त किया है—इस प्रकार भक्तजन अनेक प्रकार से प्रभु की महिमा करते हुए, दिव्य उपदेश का श्रवण कर रहे थे।

अहा, समवसरण में विराजमान तीर्थंकर भगवान की शोभा अद्भुत थी! समवसरण में दिव्य सिंहासन होते हुए भी भगवान

उसको स्पर्श किये बिना आकाश (अन्तरिक्ष) विराजमान थे। सिंहासन से भी ऊँचे आकाश में विराजमान निरालम्बी भगवान को देखते हुए ऐसा ज्ञात होता था कि पुण्य के उत्कृष्ट फल से भी चैतन्यगुण ऊँचे हैं; वह सिंहासन से अस्पर्शित भगवान जगत को यह प्रसिद्ध कर रहे थे कि पुण्यफलरूप यह सिंहासन आत्मा के लिये अपद है–अपद है। रत्नजड़ित सिंहासन होते हुए भी भगवान तो उससे अलिप्त थे; उनको सिंहासन का आधार नहीं था, किन्तु उससे विपरीत सिंहासन की शोभा भगवान के प्रताप से थी। इसी प्रकार बाहर में स्फटिक के तीन छत्र भले ही शोभित हों किन्तु अन्तर में प्रभु के रत्नत्रय की शोभा कोई अलग ही थी। देवों की दुन्दुभी के नाद से भी प्रभु की दिव्यध्वनि अधिक मधुर थी। प्रभु के मुख का प्रभा–मण्डल भले ही सूर्य–चन्द्र की अपेक्षा अधिक शोभित हो, किन्तु उनके केवलज्ञान की चैतन्यप्रभा के तेज को तो सम्यग्दृष्टि ही जानते थे।

भगवान के समवसरण में कल्पवृक्ष थे। दस प्रकार के भोगों की सामग्री देनेवाले उत्तम कल्पवृक्षों को देखकर मुमुक्षु को ऐसा होता था कि अरे! यह कल्पवृक्ष तो बाह्य फल देनेवाले हैं, किन्तु सर्वज्ञदेव तो ऐसे कल्पवृक्ष हैं कि जिसकी सेवा से सम्यग्दर्शनादि चैतन्य–रत्न प्राप्त होते हैं। इसलिए मुमुक्षु दस प्रकार के कल्पवृक्षों का दूर से ही त्याग करके, केवलज्ञानरूपी अजोड़ कल्पवृक्ष के समीप दौड़कर पहुँच जाते थे, एवं अपूर्व सम्यक्त्वादि रत्नत्रय को प्राप्त कर लेते थे। अहा, प्रभु के गुणों की महिमा का वर्णन कौन कर सकता है? वह वचनगोचर नहीं, वह ज्ञानियों को अनुभवगम्य है।

भगवान का उपदेश अद्‌भुत था! वे आत्मा की परम महिमा

को समझाते हुए उसकी आराधना का उपदेश देते थे। भगवान ने उपदेश में क्या कहा ? वह संक्षेप में यहाँ देखिये—

❀ जगत में जाननेयोग्य तत्त्व कौन से हैं ?

जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-बंध, संवर-निर्जरा-मोक्ष, इन नौ तत्त्वों की पहिचान करना चाहिये।

❀ नौ तत्त्वों में से कौन से तत्त्वों का ग्रहण करना व कौन से तत्त्वों का त्याग करना चाहिये ?

शुद्ध जीव को ग्रहण करना, संवर-निर्जरा-मोक्ष को ग्रहण करना; अन्य सभी तत्त्वों का त्याग करना। जीव सदा अपनी चेतना से जीवित है।

❀ जीव को मोक्षसुख की प्राप्ति किसप्रकार होती है ?

❀ आत्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

❀ जीव को पाप से नरक, पुण्य से स्वर्ग, तथा रत्नत्रयरूप वीतराग धर्म से मोक्ष प्राप्त होता है।

— ऐसे मोक्षमार्ग का उपदेश भगवान ने दिया। जिस मार्ग से स्वयं ने मोक्ष प्राप्त किया, वही वीतरागमार्ग भगवान ने जगत को बतलाया है। अनके जीवों ने ऐसे मार्ग को समझकर धर्म प्राप्त किया; कितने ही जीव दीक्षा लेकर मुनि हुए; सिंह-बाघ-हाथी-बन्दर-सर्प इत्यादि पशु भी आत्मा को समझकर व्रतधारी हुए। इसप्रकार चारों तरफ धर्म का जयजयकार होने लगा।

भगवान के धर्म-दरबार में स्वयंभूस्वामी इत्यादि 10 गणधर, 350 श्रुतकेवली, 10900 उपाध्याय, 1400 अवधिज्ञानी, 750

मनःपर्यय ज्ञानी, 1000 केवलज्ञानी, 1000 ऋद्धिधारी मुनि, 600 मुनि वाद-विवाद में पारंगत थे; कुल 16000 मुनिवर थे; तथा 36000 अर्जिकाओं में सुलोचना नाम की आर्जिका प्रमुख थी। श्रावक एक लाख तथा श्राविकाएँ तीन लाख थीं। स्वर्ग के देव तथा वन के पशु भी प्रभु की दिव्यवाणी श्रवण करने आते थे एवं धर्म प्राप्त करके आत्मा का उद्धार करते थे।

श्री पारसनाथ भगवान 70 वर्ष तक देश-देशान्तर में विहार करते हुए अन्त में सम्मेदशिखर पर्वत के ऊपर पधारे।

अब, उनके मोक्ष जाने में एक मास शेष रहा, इसलिए उनकी वाणी तथा विहार इत्यादि क्रियाएँ रुक गयीं। सम्मेदशिखर की सबसे ऊँची टूंक पर प्रभु खड़े थे; तीसरा तथा चौथा शुक्लध्यान पूर्ण करके अयोगी भगवान दूसरे ही क्षण ऊर्ध्वगमन करके मोक्ष पधार गये... शरीर का त्याग करके अशरीरी हो गये... संसारदशा का त्याग करके महाआनन्दरूप सिद्धदशारूप परिणमित हो गये। भगवान श्रावण शुक्ला सप्तमी को मोक्ष पधारे थे, इसलिए वह 'मोक्ष सप्तमी' कहलाती है। पारसनाथ भगवान मोक्ष पधारे, इसलिए इस पर्वत का नाम भी 'पारसनाथ-हिल' कहलाने लगा। वहाँ के रेलवे स्टेशन भी 'पारसनाथ' के नाम से प्रसिद्ध है। पर्वत की जिस टूंक से भगवान मोक्ष पधारे, वह पत्थर की टूंक थी 'पारस' के स्पर्श से 'सुवर्ण' की हो गयी, इसलिए उसका नाम 'सुवर्णभद्र' कहलाने लगा। वीर संवत 2483 एवं 2493 में कहानगुरु के साथ हजारों यात्रियों ने इस सिद्धिधाम की यात्रा की है।

क्षमामूर्ति हे देव जिनेश्वर, शिखर सिद्धिधाम है;
सम्मेदशिखर के सुवर्णभद्र पर सिद्धालय में वास है।

निजस्वरूप को साधा आपने, चैतन्यरस भरपूर है;
प्रभु प्रताप से आतम साधी, हरषे 'हरि' गुण गाय रे।
गुण तुम्हारा देख प्रभुजी, मन मेरा ललचाय रे;
पारसप्रभु तुझ चरण कमल में वंदन बारंबार रे॥

*** श्री पार्श्वनाथ भगवान की जय!***

અનુભૂતિ તીર્થ મહાન, સ્વર્ણપુરી સોહે
યહ કહાનગુરુ વરદાન, મંગલ મુક્તિ મિલે.